

JOTI JOURNAL OCTOBER - 2014

SUBJECT- INDEX

संपादकीय 175

PART-I (ARTICLES & MISC.)

- | | |
|--|-----|
| 1. Photographs | 177 |
| 2. दांडिक विचारण के महत्वपूर्ण बिन्दू | 179 |
| 3. Directions issued by the Apex Court relating to undertrial prisoners vis -à -vis Section 436-A Cr.P.C . | 215 |

PART-II (NOTES ON IMPORTANT JUDGMENTS)

ACT/ TOPIC	NOTE NO.	PAGE NO.
------------	----------	----------

ACCOMMODATION CONTROL ACT, 1961 (M.P.)

Section 12 (1) – Eviction suit against watchman, authorized to remain in possession of the demised premises by plaintiffs – Not maintainable.

धारा 12 (1) – चौकीदार के विरुद्ध निष्कासन का वाद, जिसे वादीगण ने परिसर में रहने के लिए अधिकृत किया था – प्रचलन योग्य नहीं। **227* 317**

Section 12 (1) (c) – Denial or refusal of ownership or title by the tenant is a good ground for eviction of the tenant from the premises.

धारा 12 (1) (सी) – किरायेदार द्वारा स्वामित्व या स्वत्व से इन्कार करना उसके विरुद्ध परिसर से निष्कासन का एक अच्छा आधार होता है। **228 317**

Sections 12 (1) (f), 23-J and 45 – Composite suit is maintainable before civil court – Passing of eviction decree on the ground of bona fide need is within the jurisdiction of civil court – Futile to ask the landlord to go to the R.C.A.

धारा 12 (1) (एफ), 23-जे एवं 45 – सिविल न्यायालय के समक्ष संयुक्त वाद प्रचलन योग्य है –
सदभाविक आवश्यकता के आधार पर निष्कासन की डिक्री पारित करना सिविल न्यायालय के
क्षेत्राधिकार में है – मकान मालिक को आर.सी.ए. के समक्ष जाने का कहना व्यर्थ।

229 319

Sections 37 (1), (2) and (3) – In case of Section 37(1), (2) after due notice in writing, landlord fails or
neglects to make repairs, tenant may make those repairs and deduct the expenses from the rent, but in
case of section 37 (3) the tenant may apply to the R.C.A. for such repairs.

धारा 37 (1),(2) एवं (3) – धारा 37 (1), (2) के मामले में यदि मकान मालिक लिखित सूचना के बाद
भी मरम्मत करवाने में असफल या उपेक्षावान रहता है तो किरायेदार मरम्मत करवाकर खर्च किराये में
से काट सकता है – धारा 37 (3) के मामले में किरायेदार आर.सी.ए. को मरम्मत के लिए आवेदन कर
सकता है।

230 322

ARBITRATION AND CONCILIATION ACT, 1996

Section 34 – (i) Framing of issues is not an integral part of proceeding under section
34 of the Act of 1996.

(ii) Denial to grant permission to lead evidence in such proceeding – Amounts to
procedural impropriety.

धारा 34 – (i) धारा 34 अधिनियम, 1996 की कार्यवाहियों में वादप्रश्न विरचित करना कार्यवाही का
अनिवार्य तत्व नहीं।

(ii) इन कार्यवाहियों में साक्ष्य प्रस्तुत करने की अनुमति से इन्कार – प्रक्रियात्मक अशुद्धि या
अनौचित्यता के समान।

231 324

Part I and II of the Act – (i) Applicability of law as to arbitration – Three sets of laws
are applicable to an arbitration (a) proper law of contract; (b) proper law of arbitration
agreement; and (c) proper law of conduct of arbitration.

(ii) Part I when not applicable, explained.

(iii) Challenge to foreign award on the ground of public policy – Maintainability before
the courts in India.

(i) अधिनियम, 1996 का भाग 1 और भाग 2 – माध्यस्थम में विधि का लागू होना – एक माध्यस्थ में
विधि के तीन समूह लागू होते हैं (ए) संविदा का उचित कानून (बी) माध्यस्थ अनुबंध का उचित कानून
(सी) माध्यस्थ के संचालन के बारे में उचित कानून।

(ii) भाग 1 कब लागू नहीं होता है – स्पष्ट किया।

(iii) विदेशी अवार्ड को लोक नीति के आधार पर चुनौती – भारतीय न्यायालयों के समक्ष प्रचलन
शीलता।

232 325

CIVIL PROCEDURE CODE, 1908

Section 9 – Decree passed without jurisdiction over subject-matter – Amounts to nullity.

धारा 9 – विषय-वस्तु पर क्षेत्राधिकार के बिना पारित डिक्री – शून्य है। **233(iii)** **331**

Section 11 – Rule of res judicata – Decision in a matter of W.P. is also operates as res judicata.

धारा 11 – पूर्व न्याय का नियम – किसी विषय पर रिट याचिका का निर्णय भी पूर्व न्याय की तरह लागू होता है। **237(iii)** **337**

Section 91 – Leave can be granted at any stage of the suit.

धारा 91 – वाद के किसी भी प्रक्रम पर धारा 91 के तहत अनुमति दी जा सकती है। **278 (ii)** **428**

Order 1 Rule 8 – See section 91.

आदेश 1 नियम 8 – देखें धारा 91. **278 (ii)** **428**

Order 2 Rule 2 – Bar, when not applicable?

आदेश 2 नियम 2 – बाधा कब लागू होती है ? **234** **333**

Order 6 Rule 17 – Amendment to incorporate the verdict of the Apex Court – Not allowed.

आदेश 6 नियम 17 – सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय जोड़ने हेतु संशोधन – अनुमति नहीं दी गई। **236(ii)*** **342**

Order 40 Rule 1 – Receiver can file a suit, if found necessary for preserving the estate.

आदेश 40 नियम 1 – रिसीवर यदि सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए आवश्यक पाता है तो वाद प्रस्तुत कर सकता है। **235(i)** **335**

Order 41 Rule 27 – Conditions to produce additional evidence in appellate court.

आदेश 41 नियम 27 – अपील न्यायालय में अतिरिक्त साक्ष्य प्रस्तुत करने की शर्तें। **236*** **337**

CONSTITUTION OF INDIA

Articles 14 and 50 – Doctrine of separation of powers – Consequence of principle of equality enshrined in Article 14 – Legislation in breach of above powers – Can be invalidated.

Doctrine of separation of powers – Applies to the final judgments of the court.

अनुच्छेद 14 और 50 – न्यायिक शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त – अनुच्छेद 14 द्वारा सुरक्षित समानता के सिद्धान्त का परिणाम है – इन शक्तियों के उल्लंघन के आधार पर पारित विधान – रद्द किया जा सकता है।

शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त – न्यायालयों के अन्तिम निर्णयों को लागू होता है।

237(i) &(ii) **337**

Articles 14 to 16, 19, 21 and 253 – Citizen – Meaning and scope of – It covers hijras/transgenders – They are also entitled to reservation in appointment – Transgenderism is not a disease.

अनुच्छेद 14 से 16, 19, 21 और 253 – नागरिक – अर्थ और क्षेत्र – इसमें हिंजड़े/ट्रांसजेन्डर शामिल हैं – वे भी नियुक्ति में आरक्षण के हकदार हैं – ट्रांसजेन्डरशिप बीमारी नहीं है।

238* 342

Article 22(2) – See Section 41 of the Criminal Procedure Code, 1973.

अनुच्छेद 22 (2) – देखें दं.प्र.सं., 1973 की धारा 41

239 344

CONSUMER PROTECTION ACT, 1986

Section 2 (d) – Object & purpose of the Act – To protect the consumers' interest necessary information about goods etc. should be given.

Government servant files a claim for retiral benefits – He is not a consumer.

धारा 2 (डी) – अधिनियम का उद्देश्य और प्रयोजन – उपभोक्ताओं के हितों का रक्षण – उन्हें वस्तुओं के बारे में आवश्यक जानकारी देना आदि।

शासकीय सेवक अपने सेवानिवृत्ति लाभों के लिए दावा प्रस्तुत करता है – वह उपभोक्ता नहीं है।

233(i) & (ii) 331

CONTRACT ACT, 1872

Section 11 – See section 58 of the Transfer of Property Act, 1882.

धारा 11 – देखिए धारा 58 टी.पी.एक्ट, 1882.

282 433

CRIMINAL PROCEDURE CODE, 1973

Sections 41, 41-A, 57 and 167 – How to exercise the power of arrest by police? How to exercise power to authorize detention by magistrate? Liability of concerned police officer and magistrate, who failed to exercise such powers according to the directions of the Apex Court.

धारा 41, 41 ए, 57 और 167 – गिरफ्तारी की शक्तियों का पुलिस द्वारा प्रयोग कैसे किया जाये – निरोध प्राधिकृत करने की शक्तियों का मजिस्ट्रेट द्वारा प्रयोग कैसे किया जाये – संबंधित पुलिस अधिकारी और मजिस्ट्रेट जो सर्वोच्च न्यायालय के निर्देशों के अनुरूप इन शक्तियों का प्रयोग करने में असफल होते हैं उनका दायित्व।

239 344

Section 125 – Husband, who is a healthy and able-bodied person – Cannot escape from liability to pay maintenance.

धारा 125 – पति जो स्वस्थ व सुशरीरी व्यक्ति – भरण पोषण के दायित्व से नहीं बच सकता।

240* 349

Section 154 – Delay in lodging F.I.R. – How to consider?

धारा 154 – प्रथम सूचना दर्ज करवाने में विलंब – कैसे विचार में लिया जाये।

244(i) & 352 &
257(i) 371

Section 157 – Copy of F.I.R. sent to the court next day – Explanation found proper.

धारा 157 – प्रथम सूचना प्रतिवेदन की प्रतिलिपि अगले दिन न्यायालय भेजी गई – स्पष्टीकरण उचित पाया गया।

257 (i) 371

Sections 177 to 179 and 184 – See section 138 of N.I.Act, 1881.

धारा 177 से 179 और 184 – देखें धारा 138 एन.आई.एक्ट, 1881. 267 395

Sections 211, 215, 216 and 464 – See sections 79 and 304-A of Indian Penal Code, 1860.

धारा 211, 215, 216 और 464 – देखें धारा 79, 304-ए आई.पी.सी., 1860

255 366

Sections 240 and 482 – At the time of framing of charge, appreciation of evidence is not required.

धारा 240 और 482 – आरोप विरचित करते समय – साक्ष्य का मूल्यांकन आवश्यक नहीं।

241 350

Section 303 – Ground of denial of opportunity to defend by counsel of choice – Rejected.

धारा 303 – अपनी पसंद के अधिवक्ता द्वारा बचाव के अधिकार के अवसर से इन्कार का आधार – तर्क अमान्य किये गये।

259(i) 374

Section 313 – Plea of right of private defence – Not taken in examination u/s 313 – Can be gathered from record.

धारा 313 – निजी प्रतिरक्षा के अधिकार का बचाव – धारा 313 के परीक्षण में नहीं लिया गया – अभिलेख से एकत्रित किया जा सकता है।

256(i) 370

Section 362 – Order or judgment of acquittal – Dictated in open court but not signed by Judge – He can recall or review it.

धारा 362 – दोषमुक्ति का आदेश या निर्णय – खुले न्यायालय में श्रुत लेखित किन्तु न्यायाधीश ने हस्ताक्षर नहीं किए – वे उसका पुनरावलोकन कर सकते हैं।

242 350

CRIMINAL TRIAL:

Theory of last seen – Last seen theory comes into play only in a case where the time-gap between the point of time when the accused and the deceased were seen alive and when the deceased found dead is small.

अंतिम बार साथ देखे जाने का सिद्धांत – अंतिम बार साथ देखे जाने का सिद्धांत लागू तभी होता है जब अभियुक्त और मृतक को अंतिम बार साथ देखे जाने और मृतक की मृत्यु के बीच का समय अन्तर कम हो।

248(ii) 358

Sentencing – Duty of awarding adequate sentence, explained.

दंडादेश – उचित दंड देने के कर्तव्य को स्पष्ट किया गया। 256(ii) 370

ELECTRICITY ACT, 2003

Sections 135 and 154 – Dismissal of complaint in respect of theft of electricity and non- determination of civil liability – Effect on provisional order – It is not enforceable.

धारा 135 और 154 – विद्युत चोरी का परिवाद खारिज होना और सिविल दायित्व का निर्धारण न किया जाना – प्राविधिक आदेश पर प्रभाव – यह (ऐसा आदेश) प्रवर्तन योग्य नहीं रहता है।

243 351

EVIDENCE ACT, 1872

Section 3 – Witness not gone to rescue deceased during incident due to fear and threat given by the accused – His conduct is quite natural.

धारा 3 – गवाह अभियुक्त की धमकी और भय के कारण घटना के दौरान मृतक को बचाने नहीं गया – उसका यह आचरण बिल्कुल स्वाभाविक है। 257(ii) 371

Sections 3, 27 and 45 – (i) Interested witness – Witness is the father of deceased – Has no enmity with accused – His evidence cannot be doubted on that count.

(ii) Tracing the accused by sniffer dog – Value of.

धारा 3, 27 और 45 – हितबद्ध साक्षी – साक्षी मृतक का पिता – उसकी अभियुक्त से कोई रंजिश नहीं – उसकी साक्ष्य पर केवल मृतक का पिता होने के आधार पर संदेह नहीं किया जा सकता।

अभियुक्त का पता सूंघकर पहचानने वाले कुत्ते के आधार पर – साक्ष्यिक मूल्य।

244(ii) &(iii) 352

Sections 9 and 27 – (i) Delay in T.I. parade – Accused arrested on 08.06.97 – T.I. parade was held on 25.06.97 – Witnesses also identified accused in the court – Delay not fatal.

(ii) Formal arrest of accused is not necessary before recovery.

धारा 9 और 27 – (i) पहचान परेड में विलंब – अभियुक्त 08.06.97 को गिरफ्तार – पहचान परेड 25.06.97 को हुई – गवाहों ने न्यायालय में भी अभियुक्त को पहचाना – विलंब घातक नहीं।

(ii) जप्ती के पूर्व अभियुक्त की औपचारिक गिरफ्तारी आवश्यक नहीं। 249(iii) & 359

(iv)

Sections 9, 146 and 154 – (i) Hostile witness – His evidence cannot be rejected as a whole.

(ii) Question of injuries found on the body of deceased – Not put to doctor who conducted post mortem – Correctness or legality of the said issue could not be raised.

(iii) Close relative can easily be identified even in darkness.

धारा 9, 146 और 154 – (i) पक्ष विरोधी गवाह – उसकी साक्ष्य पूरी तरह से निरस्त नहीं की जा सकती।

(ii) मृतक के शरीर पर पाई गई चोटों के प्रश्न-शव परीक्षण करने वाले डॉक्टर से नहीं पूछे गये – इस बिन्दु के सही होने या वैधानिकता को नहीं उठाया जा सकता।

(iii) निकट के रिश्तेदार को अंधेरे में भी पहचाना जा सकता। **258 373**

Section 32 (1) – Non-examination of doctor in whose presence D.D. was recorded – Not affect the evidential value of the D.D.

धारा 32 (1) – जिस डॉक्टर की उपस्थिति में मृत्यु पूर्व कथन लेखबद्ध किया गया उसका कथन नहीं करवाना – इससे मृत्यु पूर्व कथन के साक्षित मूल्य पर विपरीत प्रभाव नहीं।

245 354

Section 32 (1) – Legal position relating to D.D. – Explained.

धारा 32 (1) – मृत्यु पूर्व कथन के बारे में विधिक स्थिति – स्पष्ट की गई। **246 355**

Section 32 (1) – Contradictory parts in D.D. – Which part can be relied upon?

धारा 32 (1) – मृत्यु कालीन कथन में परस्पर विरोधी भाग – कौन से भाग पर विश्वास किया जा सकता है ?

261(i) 386

Sections 67 and 68 – Mode of proof of document which requires attestation – At least one attesting witness be called for proving execution – If witness is alive.

धारा 67 और 68 – दस्तावेज जिनका अनुप्रमाणन आवश्यक हो उन्हें प्रमाणित करने की विधि – कम से कम एक अनुप्रमाणक साक्षी को निष्पादन प्रमाणित करने के लिए बुलाना चाहिए – यदि गवाह जीवित हो।

247(i)* 357

Section 113-B – Dowry death is a presumption of law – Essentials explained.

धारा 113 बी – दहेज मृत्यु विधि की उपधारणा है – इसके तत्व – स्पष्ट किये गये।

261(ii) 386

Section 114 (g) – Non-examination of some eyewitnesses – Effect of.

धारा 114 (जी) – कुछ चक्षु साक्षीगण का कथन न करवाना – प्रभाव। **257(iii) 371**

Sections 138 and 146 – Question not put to witness in cross-examination, who could furnish explanation on the point – Correctness or legality of that point cannot be raised.

धारा 138 और 146 – प्रश्न प्रतिपरीक्षण में उस गवाह से नहीं पूछा जो किसी बिन्दु पर स्पष्टीकरण दे सकता था – उस बिन्दु के सही होने या वैधानिकता को नहीं उठाया जा सकता।

248(i) 358

EXPLOSIVE SUBSTANCES ACT, 1908

Sections 2 and 7 – Examination of D.M. – Whether necessary to prove sanction?

In M.P., power to grant sanction delegated to D.M. – He has authority to give consent for prosecution.

Huge quantity of ammonium nitrate recovered along with other items – Cumulative effect of – Possession was conscious.

धारा 2 और 7 – जिला मजिस्ट्रेट का परीक्षण – क्या अभियोजन चलाने की अनुमति प्रमाणित करने के लिए आवश्यक है ?

मध्यप्रदेश में अभियोजन चलाने की अनुमति देने की शक्ति जिला मजिस्ट्रेट को प्रत्यायोजित – वह अभियोजन चलाने में सहमति देने के लिए प्राधिकृत है।

भारी मात्रा में अमोनियम नाईट्रेट अन्य सामग्रियों के साथ बरामद – संचयी प्रभाव – आधिपत्य जानकारी में था।

249(i),

(ii) &(v) 359

HINDU MARRIAGE ACT, 1955

Section 25 – Marriage declared null and void by the court – Grant of maintenance not justified.

धारा 25 – न्यायालय द्वारा विवाह शून्य घोषित – भरण पोषण स्वीकार करना न्याय संगत नहीं था।

250 361

Sections 13 (1) (1-a) and 13 (1) (1-b) – For desertion – Which facts are necessary to be proved? Explained – Subsequent events can be considered for mental cruelty.

धारा 13 (1) (1-ए) और 13 (1) (1 –बी) – परित्याग के लिए – कौन से तथ्य प्रमाणित होना आवश्यक – स्पष्ट किया गया – मानसिक क्रूरता के लिए पश्चातवर्ती घटना विचार में ली जा सकती है।

251 362

Sections 13 (1) (1-a) and (1-b) – Word ‘cruelty’ – Not defined in the Act – It depends upon the facts of each and every case – Which acts amount to cruelty?

धारा 13 (1) (1-ए) और (1 – बी) – शब्द क्रूरता – अधिनियम में परिभाषित नहीं – यह प्रत्येक मामले के तथ्यों पर निर्भर करता है – कौन से कृत्य क्रूरता गठित करते हैं ।

252* 363

HINDU MINORITY AND GUARDIANSHIP ACT, 1956

Section 8 – Powers of natural guardian to alienate properties of minor – Cannot alienate without leave of the court.

धारा 8 – प्राकृतिक संरक्षक की अवयस्क की सम्पत्तियाँ अंतरित करने की शक्तियाँ – न्यायालय की अनुमति के बिना अन्तरण नहीं कर सकता।

253 364

HINDU SUCCESSION ACT, 1956

Section 6 – See Section 82 of the M.B. Land Revenue and Tenancy Act, Samvat, 2007.

धारा 6 – देखिए धारा 82 मध्य भारत भू राजस्व और किरायेदारी अधिनियम, संवत् 2007.

254 365

INDIAN PENAL CODE, 1860

Sections 79, 304 A, 304 Pt.II and 336 to 338 – Meaning of ‘rashness’ and ‘negligence’ explained – Difference of concept of negligence in civil and criminal law – Protection u/s 79 I.P.C. when not available.

धारा 79, 304 ए, 304 भाग 2 और 336 से 338 – ‘उतावलेपन’ और ‘उपेक्षा’ का अर्थ स्पष्ट किया गया – दांडिक और सिविल विधि में उपेक्षा की धारणा में अन्तर – धारा 79 भा.दं.सं. की सुरक्षा कब उपलब्ध नहीं होती।

255 366

Sections 97 and 326 – See section 313 of Code of Criminal Procedure, 1973

धारा 97 और 326 – देखिए धारा 313 दं.प्र.सं., 1973

255 370

Section 120B – See Explosive Substances Act, 1908

धारा 120बी – देखिए विस्फोटक पदार्थ अधिनियम, 1908

249 359

Section 302 – See sections 3 of the Evidence Act, 1872

धारा 302 – देखिए धारा 3 भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872.

257 371

Section 302 – See sections 9, 146 and 154 of the Evidence Act, 1872.

धारा 302 – देखिए धारा 9, 146 और 154 भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872

258 373

Section 302, 307, 394/397 and 450 – Sentencing policy – For death sentence, examination of mitigating aggravating circumstances, and R-R Test – Law explained.

धारा 302, 307, 394/397 और 450 – दंड की नीति – मृत्यु दंड के लिए अल्पीकरण और गंभीर परिस्थितियां तथा विरले से विरलतम प्रकरण का परीक्षण – विधि स्पष्ट की गई।

259(ii) 374

Section 304-B – Person related by blood, marriage or adoption is called relative of husband – Person not relative – Cannot be prosecuted for offence u/s 304 B.

धारा 304-बी – व्यक्ति जो रक्त, विवाह या दत्तक द्वारा संबंधित हो वह पति का नातेदार कहलाता है – व्यक्ति जो नातेदार नहीं है उसका अभियोजन धारा 304 बी के अपराध के लिए नहीं किया जा सकता।

260 385

Sections 304-B and 498-A – See section 113-B of the Evidence Act, 1872.

धारा 304-बी और धारा 498-ए – देखिए धारा 113-बी साक्ष्य अधिनियम, 1872.

261 386

Section 376 (2)(g) – Gang rape – When proved?

धारा 376 (2) (जी) – सामूहिक बलात्कार – कब प्रमाणित।

262* 388

Section 420 – See section 240 of Criminal Procedure Code, 1973

धारा 420 – देखिए धारा 240 दं.प्र.सं., 1973

241 350

LAND ACQUISITION ACT, 1894

Sections 5A and 6 (1) – Recommendations after hearing u/s 5-A made by Collector to Government – Should reflect application of mind – Government should apply its mind on such report and then take final decision on objection before making declaration u/s 6 (1).

धारा 5 ए और 6 (1) – धारा 5 ए के तहत सुनवाई के पश्चात् कलेक्टर द्वारा शासन को की गई अनुशंसाओं में मस्तिष्क का प्रयोग दिखना चाहिए – शासन को ऐसे प्रतिवेदन पर अपने मस्तिष्क का प्रयोग करना चाहिए तथा आपत्तियों का अंतिम निर्णय धारा 6 (1) के तहत घोषणा करने से पूर्व लेना चाहिए।

273(iii) & (iv) 402

Sections 18 and 31 – See section 24 (2) of the new Act, 2013.

धारा 18 और 31 – देखिए धारा 24 (2) नवीन अधिनियम, 2013 **272 399**

M.B. LAND REVENUE AND TENANCY ACT, SAMVAT, 2007

Section 82 – Death of deceased had taken place before 1956 – Succession will be governed by section 82 of M.B. Land Revenue and Tenancy Act and not by section 6 of Hindu Succession Act, 1956.

धारा 82 – मृत्यु 1956 के पूर्व हुई – उत्तराधिकार धारा 82 मध्य भारत भू-राजस्व एवं किरायेदारी अधिनियम से शासित होगा न कि धारा 6 हिन्दू उत्तराधिकारी अधिनियम, 1956 से।

254 365

MOTOR VEHICLES ACT, 1988

Sections 147 and 149 – Difference between liabilities of insurance company u/s 147(1) and 149(1) – Explained.

धारा 147 और 149 – बीमा कम्पनी के धारा 147 (1) और धारा 149 (1) के तहत दायित्व में अन्तर – स्पष्ट किया गया।

263 389

Section 166 – Death claim – Liability to pay compensation to daughter of owner/driver – Insurance company held rightly exonerated.

धारा 166 – मृत्यु प्रकरण – वाहन स्वामी/चालक की पुत्री को प्रतिकर भुगतान का दायित्व – अभिनिर्धारित किया गया – बीमा कंपनी को सही रूप से उनमुक्त किया।

264* 391

M.P. MUNICIPAL CORPORATION ACT, 1956

Sections 58 and 424 – Who is competent authority to grant sanction for prosecution? Held, standing committee is the competent authority to grant sanction for prosecution.

धारा 58 एवं 424 – अभियोजन चलाने की अनुमति देने के लिए सक्षम प्राधिकारी कौन है ? अभिनिर्धारित किया गया, स्थाई समिति सक्षम प्राधिकारी है।

269* 397

N.D.P.S. ACT, 1985

Section 50 – Search of a plastic bag – Section 50 is not applicable.

धारा 50 – प्लास्टिक के थैले की तलाशी – धारा 50 लागू नहीं होगी। **265 392**

NEGOTIABLE INSTRUMENTS ACT, 1881

Section 138 – Financial capacity of complainant to give big amount as a loan – Is a material fact.

धारा 138 – परिवादी की एक बड़ी राशि ऋण के रूप में देने की वित्तीय क्षमता – एक तात्विक तथ्य है। **266 393**

Sections 138 and 142 – Change of legal position of territorial jurisdiction of court to entertain complaint – Effect on pending cases.

धारा 138 और 142 – परिवाद ग्रहण करने की न्यायालय के प्रादेशिक क्षेत्राधिकार के बारे में परिवर्तित विधिक स्थिति। लंबित मामलों पर प्रभाव। **267 395**

PREVENTION OF CORRUPTION ACT, 1988

Sections 13 (1) (d) and 13 (2) – See Section 240 of Criminal Procedure Code, 1973

धारा 13 (1) (डी) एवं 13(2) – देखिए धारा 240 दं.प्र.सं., 1973 **241 350**

Section 17 – Part of investigation carried out by A.S.I. – Not authorized officer – Accused is not able to show any serious prejudice – Not fatal.

धारा 17 – अनुसंधान का एक भाग सहायक उप निरीक्षक ने पूरा किया – जो अधिकृत अधिकारी नहीं था – अभियुक्त उसके हितों पर प्रतिकूल असर पड़ना दर्शाने में समर्थ नहीं रहा – यह (ऐसा अनुसंधान) घातक नहीं है। **268 397**

Section 19 – See section 58 of Municipal Corporation Act, 1956.

धारा 19 – देखिए धारा 58 नगर पालिका निगम अधिनियम, 1956। **269* 397**

PUBLIC GAMBLING ACT, 1867

Section 4 (M.P. Amendment) – I.O. seized some slips on which numbers were written – No evidence that the slips were related to gaming or Worli Matakas – Offence not proved.

धारा 4 (म.प्र. संशोधन) – अनुसंधान अधिकारी ने कुछ पर्चियाँ जप्त की जिन पर अंक लिखे थे – इस संबंध में साक्ष्य नहीं थी कि पर्चियाँ द्यूत या वर्लि मटका से संबंधित है – अपराध प्रमाणित नहीं हुआ। **270 398**

REGISTRATION ACT, 1908

Section 17 – Effect of registered Will – Presumption of correctness of date and time.

धारा 17 – पंजीकृत वसीयत का प्रभाव – तारीख और समय सही होने की उपधारणा। **271* 399**

RIGHT TO FAIR COMPENSATION AND TRANSPARENCY IN LAND ACQUISITION, REHABILITATION AND RESETTLEMENT ACT, 2013

Section 24 (2) – Meaning of expression “compensation has not been paid”, explained.

धारा 24 (2) – शब्द ‘प्रतिकर भुगतान नहीं किया गया’ का अर्थ स्पष्ट किया गया।

272 399

Section 24 (3) – Land acquisition proceeding initiated under old Act of 1894 but possession not taken up to 07.05.2014 – Period of seven years lapsed – Proceeding must be deemed to have lapsed u/s 24 (2) of the new Act – Right of hearing can be taken within the limitation u/s 17 (4) of the Act – Officer who heard the objection should have passed the order.

धारा 24 (3) – भूमि अधिग्रहण की कार्यवाही पुराने अधिनियम, 1894 में प्रारंभ की गई थी लेकिन 7 मई 2014 तक आधिपत्य नहीं लिया गया – कार्यवाही धारा 24 (2) अधिनियम 2013 के अनुसार समाप्त हो जाना माना जायेगा – सुनवाई का अधिकार धारा 17 (4) अधिनियम, में परिसीमित कारणों से ही लिया जा सकता है – आपत्तियों का जिस अधिकारी ने सुनवाई की उसे ही आदेश पारित करना चाहिए।

273 402

Section 24 (3) – Land acquisition proceeding initiated under old Act of 1894 – Award passed – Possession not taken by authority – Compensation neither paid nor deposited in forum & Proceeding deemed to be lapsed in terms of section 24 (2) of the new Act of 2013.

धारा 24 (3) – भूमि अधिग्रहण की कार्यवाही पुराने अधिनियम, 1894 में शुरू की गई – अवार्ड पारित – प्राधिकारी ने आधिपत्य नहीं लिया, प्रतिकर न तो भुगतान किया गया न ही फोरम में जमा करवाया – कार्यवाही धारा 24 (2) नवीन अधिनियम, 2013 के तहत समाप्त मानी जायेगा। **274 405**

SARFAESI ACT, 2002

Sections 13, 14, 34, 35 and 37 – Power of borrower to lease a mortgaged property – Explained – Position of lessee and available remedies for lessee – Procedure for secured creditor to take possession of secured assets – Remedies for tenants of secured assets – Legal position regarding above points explained.

धारा 13, 14, 34, 35 एवं 37 – ऋणी की बंधक सम्पत्ति को पट्टे पर देने की शक्ति – स्पष्ट की गई पट्टेदार की स्थिति और उसे उपलब्ध उपचार – संरक्षित ऋणदाता द्वारा संरक्षित सम्पत्ति का आधिपत्य लेने के लिए प्रक्रिया – संरक्षित सम्पत्ति के किरायेदार को उपलब्ध उपचार – उक्त सभी बिन्दुओं पर वैधानिक स्थिति स्पष्ट की गई। **275 407**

SERVICE LAW

Order of Compulsory retirement cannot be passed as a shortcut to avoid D.E. – Such order without following the principles of natural justice is illegal.

अनिवार्य सेवा निवृत्ति का आदेश विभागीय जाँच से बचकर संक्षिप्त में पारित नहीं किया जा सकता – ऐसा आदेश जो प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों का अनुसरण किये बिना दिया गया वह अवैध है |276

425

SPECIFIC RELIEF ACT, 1963

Section 20 – Plaintiff gets unfair advantage over the defendant – Discretionary relief may not be granted in his favour.

धारा 20 – वादी ने प्रतिवादी से अनुचित लाभ लिया – उसके पक्ष में वेवेकीय अनुतोष नहीं दिया जा सकता |

277 427

Sections 34 and 38 – Suit for permanent injunction, without claiming the relief of declaration in respect of easementary right of way is maintainable.

धारा 34 और 38 – स्थायी निषेधाज्ञा का वाद सुखाधिकार के आधार पर रास्ते के अधिकार की घोषणा का अनुतोष मांगे बिना प्रचलन योग्य है।

278(i) 428

Sections 34 and 38 – Suit for declaration of title and permanent injunction – More property than the share of seller received by Will – Sold the same – The sale is valid up to the share of the seller's property.

धारा 34 और 38 – स्वत्व घोषणा और स्थायी निषेधाज्ञा – विल के माध्यम से विक्रेता को उसके अंश से अधिक सम्पत्ति मिली – विक्रय कर दी गई – विक्रय विक्रेता के सम्पत्ति के अंश की सीमा तक वैध है।

279* 430

STAMP ACT, 1899

Sections 2 (14), 33, 35, 38 and Schedule I-A, Entry 5(e) – Term 'instrument' is wide – Covers a document by which any right or liability is either created, transferred, limited, extended, extinguished or recorded – Decisive and conclusive factors for admissibility of document – Explained.

धारा 2 (14), 33, 35, 38 एवं अनुच्छेद 1 ए इन्द्राज 5 (ई) – शब्द लिखत एक विस्तृत शब्द है जिसमें ऐसे दस्तावेज शामिल हैं जिसके द्वारा कोई अधिकार या दायित्व सृजित, अंतरित, सीमित, समाप्त, विस्तृत या अभिलिखित करता है।

280 430

SUCCESSION ACT, 1925

Section 63 – Difference between signature of attesting witness and scribe or writer of the Will – Explained.

धारा 63 – विल के अनुप्रमाणक साक्षी और उसके लिखने वाले के हस्ताक्षर में अन्तर – स्पष्ट किया गया।

281 431

Section 63 – See section 17 of the Registration Act, 1908.

धारा 63 – देखें धारा 17 पंजीकरण अधिनियम, 1908।

271 399

Sections 74 and 119 – Original Will not produced – Name of the typist and draftsman not mentioned – Place of signature of testator left out blank – Name of one attested witness was handwritten – Will held not proved.

धारा 74 एवं 119 – मूल वसीयत प्रस्तुत नहीं – विल टंकित करने वाले और प्रारूपित करने वाले का नाम दर्ज नहीं – वसीयत कर्ता के हस्ताक्षर का स्थान खाली छूटा था – एक अनुप्रमाणक साक्षी का नाम हाथ से लिखा था – विल प्रमाणित नहीं पाई गई। **247(ii)* 357**

TORTS:

Negligence – See sections 79, 304A and 336 to 338 of Indian Penal Code, 1860

दुष्कृति विधि – उपेक्षा – देखें धारा 79, 304ए, 336 से 338 भा.दं.सं., 1860।

255 366

TRANSFER OF PROPERTY ACT, 1882

Sections 7, 8, 14, 65A, 105, 109 and 111 – See SARFAESI Act, 2002.

धारा 7, 8, 14, 65ए, 105, 109 और 111 – देखिए सरफेसाई एक्ट, 2002. **275 407**

Section 58 – Mortgage in the name of a minor, though in the interest of minor – Invalid – Unless the minor is represented by her natural guardian. Difference between ‘Simple Mortgage’ and ‘Usufructuary Mortgage’ – Explained.

धारा 58 – अवयस्क के नाम पर बंधक, यद्यपि उसके हित में है – अवैध है – जब तक कि उसका प्रतिनिधित्व उसके प्राकृतिक संरक्षक द्वारा नहीं किया गया हो। साधारण बंधक और भोग-बंधक में अन्तर – निर्णय चरण 11 में स्पष्ट किया गया। **282 433**

Section 106 – Notice is short of the period specified in section 106 (1) – But suit is filed after expiry of the period mentioned in section 106 (1) – Notice shall not be deemed to be invalid.

धारा 106 – धारा 106 (1) में बतलाई अवधि से कम की अवधि का सूचना पत्र – किन्तु वाद धारा 106(1) में बतलाई अवधि समाप्त हो जाने के बाद प्रस्तुत – सूचना पत्र अवैध नहीं समझा जा सकेगा। **235(ii) 335**

PART-IV

(IMPORTANT CENTRAL/STATE ACTS & AMENDMENTS)

1. Madhya Pradesh Civil Court Amendment Act, 2014 **35**

•

सम्पादकीय

प्रदीप कुमार व्यास
अतिरिक्त संचालक

सम्माननीय पाठकगण,

इस अंक से एक नवीन प्रयोग प्रारंभ किया गया है जिसके अनुसार इस पत्रिका में भाग दो में जो महत्वपूर्ण निर्णय और उनके नोट्स प्रकाशित किये जाते हैं उनमें मुख्य शीर्ष या हैड नोट का हिन्दी अनुवाद उसी नोट के नीचे प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवाद यथासंभव सही करने का प्रयास किया गया है कहीं-कहीं बिल्कुल समानता नहीं आ सकी है लेकिन नोट्स का पूरा भाव व विधिक स्थिति ली गई है। मेरे मत में इस प्रयोग से हमारे उन न्यायाधीशगण को जो हिन्दी में अपेक्षाकृत अपने आप को अधिक सहज महसूस करते हैं उन्हें लाभ हो सकेगा और वे नवीनतम वैधानिक स्थिति से अवगत हो सकेंगे, साथ ही हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में हैड नोट एक साथ होने से उनकी रूचि दोनों ही भाषाओं में बढ़ेगी। इस नवीन प्रयोग के बारे में आप अपने अनुभव इस अकादमी को अवश्य लिखियेगा ताकि इस प्रयोग को निरंतर रखा जाये या नहीं इस पर मार्गदर्शन मिल सकेगा।

दिनांक 16 अगस्त 2014 को अकादमी की ओर से एक व्याख्यान माननीय न्यायमूर्ति सर्वोच्च न्यायालय श्री दीपक मिश्रा साहब का रखा गया था जिसका विषय था :-

‘दंड प्रक्रिया संहिता की पवित्रता बनाये रखने में न्यायालय का कर्तव्य’

इस कार्यशाला में प्रदेश के सभी जिलों के जिला एवं सत्र न्यायाधीश महोदय एवं जबलपुर के आसपास के करीब 11 जिलों के न्यायाधीशगण ने भाग लिया। वीडियो कान्फ्रेंसिंग के माध्यम से कार्यक्रम का प्रसारण भी किया गया था।

अगस्त माह में एक कार्यशाला भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 पर 23 एवं 24 अगस्त 2014 को और एक कार्यशाला किशोर न्याय (बालकों की देखभाल और संरक्षण) अधिनियम, 2000 पर 30 अगस्त 2014 को रखी गई थी।

एक नवीन न्यायादृष्टांत एन.आई.एक्ट. पर माननीय सर्वोच्च न्यायालय का दशरथ रूपसिंह राठौड़ विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, 2014 (3) क्रॉइम्स 162 तीन न्यायमूर्ति गण की पीठ का आ चुका है जिसके अनुसार अब धारा 138 के तहत चैक अनादरण का परिवाद ग्रहण करने का प्रादेशिक क्षेत्राधिकार केवल उसी न्यायालय को रहेगा जिसकी स्थानीय अधिकारिता में वह बैंक स्थित है जिससे चैक अनादरित हुआ। जिन मामलों में

अभियुक्त के उपस्थित होने के बाद साक्ष्य लेखबद्ध करने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है अर्थात् धारा 145 एन.आई.एक्ट. का प्रक्रम आ चुका है वे और उसके बाद के प्रक्रम के प्रकरण पूर्ववत् उन्हीं न्यायालयों में चलते रहेंगे।

इस निर्णय से यह भी स्पष्ट है कि शेष लंबित प्रकरण सक्षम न्यायालयों में पेश करने के लिए लौटा देने होंगे।

एक अन्य न्यायदृष्टांत विजय अग्रवाल विरुद्ध यूनियन ऑफ इंडिया, डब्लू. पी. (क्रिमिनल) नम्बर 32/2013 आदेश दिनांक 05.09.2014 में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने धारा 436 ए दंड प्रक्रिया संहिता के प्रभावी अनुपालन के लिए कुछ निदेश दिये हैं जो इस अंक में शामिल किये गये हैं उनके अनुसार प्रत्येक क्षेत्राधिकार रखने वाले मजिस्ट्रेट/मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट/सेशन्स जज को एक अक्टूबर 2014 से सप्ताह में एक दिन संबंधित जेल में बैठक करना है व 436 ए दं.प्र.सं. की परिधि में आने वाले विचाराधीन कैदियों को रिहा करना है और दो माह में निदेशों का अनुपालन करके रजिस्ट्रार जनरल महोदय को प्रतिवेदन देना है। प्रदेश में ऐसे मामलों की संख्या नगण्य है और यह इस प्रदेश के न्यायाधीशगण के कठोर परिश्रम को दर्शाता है वे इसके लिए बधाई के पात्र हैं।

प्रदेश के सिविल न्यायाधीश का आर्थिक क्षेत्राधिकार भी 04.09.2014 से बढ़ा दिया गया है अब सिविल न्यायाधीश वर्ग 2 पाँच लाख रुपये तक के मूल्य के वादपत्र ग्रहण कर सकेंगे जबकि व्यवहार न्यायाधीश वर्ग 1 का आर्थिक क्षेत्राधिकार एक करोड़ रुपये तक कर दिया गया है इस अधिसूचना को भी इस अंक में प्रकाशित किया गया है। अकादमी की गतिविधियों और इस पत्रिका के बारे में आपके अमूल्य सुझाव सादर आमंत्रित है।

15.09.2014

आपका
प्रदीप कुमार व्यास

**MADHYA PRADESH STATE JUDICIAL ACADEMY,
HIGH COURT OF M.P., JABALPUR**



**Workshop on – Key Issues and Challenges under the Prevention of Corruption Act, 1988
(23rd & 24th August, 2014)**

**MADHYA PRADESH STATE JUDICIAL ACADEMY,
HIGH COURT OF M.P., JABALPUR**



**Workshop on – Role of Various Stakeholders under the Juvenile Justice
(Care & Protection of Children) Act, 2000 (30.08.2014)**

PART – I

दांडिक विचारण के कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु

प्रदीप कुमार व्यास,
अतिरिक्त संचालक,
मध्यप्रदेश राज्य न्यायिक अकादमी

प्रायः दांडिक मामलों के विचारण और निराकरण के समय मजिस्ट्रेट एवं अपर सत्र न्यायाधीश के समक्ष कई प्रश्न उत्पन्न होते हैं और उन पर नवीनतम वैधानिक स्थिति पता नहीं होने से दांडिक न्यायालयों का अमूल्य समय नष्ट होता है यहाँ हम ऐसे ही कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर विचार करेंगे जो इस प्रकार हैं :-

- (1) अभियोजन गवाह का प्रतिरक्षा गवाह के रूप में बुलवाया जाना।
- (2) अभियुक्त के शरीर की चोटों का स्पष्टीकरण न देने का प्रभाव।
- (3) 157 दण्ड प्रक्रिया संहिता के अनुपालन न होने के बारे में।
- (4) अनुसंधान की कमी।
- (5) तात्विक साक्षीगण के कथन न करवाना।
- (6) अनुसंधान अधिकारी का कथन न करवाना।
- (7) मेडीकल साक्ष्य और प्रत्यक्ष साक्ष्य में विरोधाभास होने पर।
- (8) अभियुक्त की पहचान परेड।
- (9) न्यायिकेतर संस्वीकृति।
- (10) धारा 161 दं.प्र.सं. का कथन विलंब से लेना।
- (11) प्रथम सूचना प्रतिवेदन दर्ज करवाने में विलंब।
- (12) साक्ष्य में विरोधाभास और लोप।
- (13) मृत्यु कालीन कथन।

1. अभियोजन गवाह का प्रतिरक्षा गवाह के रूप में बुलवाया जाना

यदि किसी ऐसे साक्षी को जिसका परीक्षण अभियोजन साक्षी के रूप में पूर्ण किया जा चुका हो और उसकी परीक्षा, प्रतिरक्षा, और पुनः परीक्षा हो चुकी हो उसी गवाह को अभियुक्त प्रतिरक्षा साक्षी के रूप में यदि बुलाना चाहता है और बुलाता है तब उसका कथन पूर्व के डिपोजिशन शीट में ही आगे निरन्तर अभिलिखित किया जाना चाहिए और उसके पूर्व कथन के ठीक बाद से उसका कथन प्रारंभ होना चाहिए जैसे एक डॉक्टर का कथन अभियोजन ने करवा दिया है और बाद में अभियुक्त उसी घटना से संबंधित उसकी एम.एल.सी. प्रमाणित करवाने के लिए उसी डॉक्टर को बुलाता है तब उस डॉक्टर का कथन पूर्व की डिपोजिशन शीट में ही प्रारंभ किया जाना चाहिए। इसी प्रकार किसी अन्वेषण

अधिकारी को क्रास प्रकरण की प्रथम सूचना आदि प्रमाणित करने के लिए प्रतिरक्षा में बुलाया जा सकता है तब भी पूर्व की डिपोजिशन शीट में ही उसका कथन प्रारंभ किया जाना चाहिए।

इस संबंध में न्यायदृष्टांत पप्पू उर्फ चन्द्रप्रवेश तिवारी विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., आई.एल.आर. 2013 एम.पी. 1208 एवं हरभजन विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 1989 जे.एल.जे. 217 अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ विरुद्ध एम.पी. बंदी यादव, ए.आई.आर. 2006 एस.सी. 1769 के अनुसार यदि किसी गवाह को अभियोजन ने अभियोजन साक्षी के रूप में परीक्षित करवा लिया है और उसे बचाव साक्षी के रूप में बुलवाया जाता है तब भी वह अभियोजन साक्षी ही रहता है।

न्यायदृष्टांत सोनू विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., आई.एल.आर. 2010 एम.पी. 2418 के अनुसार एक व्यक्ति जिसका परीक्षण अभियोजन साक्षी के रूप में हो चुका हो उसी को प्रतिरक्षा साक्षी के रूप में नहीं बुलाया जा सकता इस मामले में गवाह को पहले अभियोजन ने परीक्षित करवा दिया था और अभियुक्त उसे प्रतिरक्षा साक्षी में बुलाना चाहता था जिसकी अनुमति नहीं दी गई। इस प्रकार वैधानिक स्थिति यह स्पष्ट होती है कि यदि किसी गवाह को अभियोजन ने अपने साक्षी के रूप में परीक्षित करवा दिया हो और अभियुक्त उसे प्रतिरक्षा साक्षी के रूप में पुनः बुलाना चाहे तो वह सीमित रूप से अपना बचाव प्रमाणित करने के उद्देश्य से जैसे उसी डॉक्टर से प्रति मामले या क्रास प्रकरण की एम.एल.सी. प्रमाणित करवाना आदि के लिए बुला सकता है और वह साक्षी अभियोजन साक्षी ही कहलाता है और उसका अतिरिक्त परीक्षण पूर्व की डिपोजिशन शीट के नीचे ही किया जाता है, लेकिन अभियुक्त उस गवाह को पूरी तरह प्रतिरक्षा साक्षी के रूप में फिर से परीक्षित कराना चाहे तो ऐसा नहीं कर सकता है। इस प्रकार जब कभी अभियुक्त की ओर से किसी गवाह को जो कि पूर्व से ही अभियोजन द्वारा परीक्षित करवाया जा चुका हो बुलाने की प्रार्थना की जाती है तब विचारण न्यायालय को यह स्थिति स्पष्ट करवाना चाहिए कि गवाह को पुनः किस उद्देश्य से बुलवाना चाहते हैं उसके बाद ही ऐसी प्रार्थना स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए।

2. अभियुक्त के शरीर की चोटों का स्पष्टीकरण न देने का प्रभाव

यदि अभियुक्त के शरीर पर पायी गयी चोटों का स्पष्टीकरण नहीं दिया जाता है तो न्यायालय को दो शर्तों के बारे में अपना समाधान कर लेना चाहिए :-

1. अभियुक्त के शरीर पर पायी गयी चोटें गंभीर प्रकृति की होना चाहिए।
2. उक्त चोटें उसी घटना में और उसी घटना के समय कारित होना चाहिए।

इस संबंध में न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ राजस्थान विरुद्ध शिवचरण, 2013 (3) क्राइम्स 305 (एस.सी.) अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत लक्ष्मण विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, (2012) 11 एस.सी.सी. 158 के अनुसार अभियुक्त के शरीर पर पायी गयी गंभीर प्रकृति की चोटों का स्पष्टीकरण न देना अभियोजन के लिए घातक हो सकता है लेकिन जहाँ चोटें लघु प्रकृति की हो और उनका स्पष्टीकरण अभियोजन ने नहीं दिया है तब भी वह अभियोजन कहानी को प्रभावित नहीं करती है।

न्यायदृष्टांत मनुदत्त विरुद्ध स्टेट ऑफ उत्तरप्रदेश, (2012) 11 एस.सी.सी. 79 में भी इस प्रश्न पर विचार किया गया और यही प्रतिपादित किया गया कि जहाँ चोटें गंभीर प्रकृति की और उसी घटना में कारित हुई हो इस बात पर न्यायालय का समाधान हो जाये तभी चोटों का स्पष्टीकरण न देना अभियोजन के लिए घातक हो सकता है। जहाँ साक्ष्य स्पष्ट, अकाट्य और विश्वसनीय हो और सत्य को झूठ से पृथक किया जा सकता हो वहाँ केवल अभियुक्त के शरीर की चोटों का अभियोजन द्वारा स्पष्टीकरण न देना अभियोजन साक्षीगण पर अविश्वास करने का एक मात्र आधार नहीं बनाया जा सकता और इस आधार पर पूरा अभियोजन मामला प्रभावित नहीं होता है यह भी उक्त मनुदत्त वाले मामले में निर्णय चरण 40 में कहा गया और न्यायदृष्टांत राजेन्द्र सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (2000) 4 एस.सी.सी. 298, रामसुन्दर यादव विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (1998) 7 एस.सी.सी. 365, विजयी सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी. (1990) 3 एस.सी.सी. 190 का उल्लेख भी किया गया।

यदि अभियुक्त के शरीर पर पायी गयी चोटें साधारण, तुच्छ, सुपरफीशियल या सतही हो तो उन्हें अनदेखा किया जा सकता है और ऐसी चोटों का अभियोजन द्वारा स्पष्टीकरण न देने का अभियोजन के मामले पर घातक प्रभाव नहीं होता है इस संबंध में न्यायदृष्टांत रामविशम्भर विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., (2013) 2 एस.सी.सी. 71 अवलोकनीय है।

रामपथ विरुद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, (2009) 7 एस.सी.सी. 614 के अनुसार जहाँ अभियुक्त को गंभीर चोटें आयी हो वहाँ अभियोजन द्वारा उसका स्पष्टीकरण देना चाहिए साधारण चोटों के बारे में ऐसा आवश्यक नहीं है साधारण चोटों का स्पष्टीकरण न देना घातक नहीं है न्यायदृष्टांत हरि विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, (2009) 11 एस.सी.सी. 96 भी अवलोकनीय है।

ऐसा कोई सामान्य नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता कि अभियुक्त के शरीर की चोटों का स्पष्टीकरण न देना सभी मामले में अभियोजन के लिए घातक होता है यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। न्यायदृष्टांत लक्ष्मीसिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (1976) 4 एस.सी.सी. 394 निर्णय चरण 12 में यह निर्धारित किया गया है जहाँ अभियुक्त के शरीर पर पायी गयी चोटें अल्प और सुपरफीशियल या सतही हो या अभियोजन साक्ष्य स्पष्ट और कोजेन्ट या अकाट्य हो, स्वतंत्र, संभाव्य और स्थिर हो वहाँ अभियोजन द्वारा अभियुक्त के शरीर की चोटों का स्पष्टीकरण न देने के प्रभाव का वजन या महत्व नहीं होता है। इस संबंध में न्यायदृष्टांत रिजवान विरुद्ध स्टेट ऑफ छत्तीसगढ़, (2003) 2 एस.सी.सी. 661 भी अवलोकनीय है। अभियोजन के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वह प्रत्येक मामले में और प्रत्येक परिस्थिति में चोटों का स्पष्टीकरण दे ऐसा कोई कानून नहीं है बल्कि यह मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है कि ऐसा स्पष्टीकरण न देने का क्या प्रभाव है।

इस संबंध में न्यायदृष्टांत बाबा नन्दा शर्मा विरुद्ध स्टेट ऑफ असम, ए.आई.आर. 1977 एस. सी. 2252 तीन न्याय मूर्तिगण की पीठ का न्याय दृष्टांत अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत लक्ष्मीसिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, ए.आई.आर.1976 एस.सी. 2263 के अनुसार जहाँ अभियुक्त के शरीर पर पाई गई चोटों का स्पष्टीकरण अभियोजन द्वारा नहीं दिया जाता है तब तीन अनुमान न्यायालय निकाल सकती है:-

1. अभियोजन घटना की उत्पत्ति छुपा रही है और घटना का सही अभिकथन प्रस्तुत नहीं कर रही है।
2. गवाह जो अभियुक्त की शरीर पर चोटों की उपस्थिति से इन्कार कर रहे हैं वे कई तात्विक बिन्दुओं पर असत्य कथन कर रहे हैं और विश्वास योग्य नहीं है।
3. बचाव पक्ष जो अभियुक्त के शरीर की चोटों का स्पष्टीकरण दे रहा है वह वहाँ अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है जहां ऐसे गवाह की साक्ष्य हो जो हितबद्ध या अभियुक्त से वैमनस्य रखते हों या अभियुक्त की प्रतिरक्षा अभियोजन के मामले की तुलना में अधिक संभाव्य है।

न्यायदृष्टांत राजेन्द्र सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ बिहार, ए.आई.आर. 2000 एस.सी. 1779 तीन न्यायमूर्तिगण की पीठ के अनुसार जहाँ अभियोजन गवाह की साक्ष्य विश्वसनीय हो वहाँ अभियुक्त के शरीर की चोटों का स्पष्टीकरण न देना अभियोजन के लिए घातक नहीं होता है इस मामले के निर्णय चरण तीन में पूर्व के न्यायदृष्टांतों पर विचार करते हुए यह विधि प्रतिपादित की है।

न्यायदृष्टांत ताकाजी, हीरजी विरूद्ध ठाकुर कुबेर सिंह, चमन सिंह, ए.आई.आर. 2001 एस.सी. 2328 चार न्यायमूर्तिगण की पीठ के अनुसार अभियुक्त के शरीर की चोटों का स्पष्टीकरण न देने को पूरी अभियोजन कहानी को अस्वीकार कर देने का आधार नहीं बनाया जा सकता।

इस प्रकार वैधानिक स्थिति यह स्पष्ट होती है कि यदि अभियुक्त के शरीर पर पायी गई चोटें गंभीर प्रकृति की हों और उसी घटना में घटना के समय कारित हुई हो तो अभियोजन को उनका स्पष्टीकरण देना चाहिए साथ ही यदि उपलब्ध अभियोजन साक्ष्य कोजेन्ट या अकाट्य, पुष्टिकारक और विश्वास योग्य है तो ऐसा स्पष्टीकरण न देने का महत्व नहीं होता है। यदि चोटें साधारण और सतही या सुपर फीशियल या तुच्छ प्रकृति की हो तो उनका स्पष्टीकरण देना अभियोजन के लिए आवश्यक नहीं होता है। अभियोजन के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वह प्रत्येक मामले में और प्रत्येक परिस्थिति में चोटों का स्पष्टीकरण दे ऐसा कोई कानून नहीं है बल्कि यह मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

3. 157 दण्ड प्रक्रिया संहिता के अनुपालन न होने के बारे में

धारा 157 (1) दं.प्र.सं. 1973 के अनुसार यदि पुलिस थाने के भार साधक अधिकारी को सूचना प्राप्त होने पर या अन्यथा यह संदेह करने का कारण है कि ऐसा अपराध किया गया है जिसका अन्वेषण करने के लिए धारा 156 दं.प्र.सं. के अधीन वह सशक्त है तो वह उस अपराध की रिपोर्ट उस मजिस्ट्रेट को तत्काल भेजेगा जो ऐसे अपराध का पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान करने पर सशक्त है।

उक्त प्रावधान के अनुसार प्रथम सूचना पंजीबद्ध होने के बाद उसकी एक प्रतिलिपि थाना प्रभारी को संबंधित मजिस्ट्रेट को तत्काल भेजना चाहिए यहाँ हम इस प्रावधान का पालन न होने या विलंब से पालन होने के प्रभाव पर विचार करेंगे। प्रथम सूचना 13 जून 1979 को दर्ज की गयी और अगले दिन अर्थात् 14 जून 1979 को उसकी प्रति मजिस्ट्रेट को भेजी गयी अभियुक्त ने इसके कारण प्रिजुडिस होना नहीं दर्शाया इस विलंब का कोई प्रभाव नहीं पाया गया इस संबंध में न्यायदृष्टांत शिवशंकर सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ यू. पी., 2013 (3) काइम्स 1 (एस.सी.) अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत संदीप विरूद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., (2012) 6 एस.सी.सी. 107 पैरा 62 एवं 63 तथा पाला सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ पंजाब, (1972) 2 एस.सी.सी. 640 भी अवलोकनीय है।

प्रथम सूचना 26.04.1984 को दर्ज की गयी मजिस्ट्रेट के समक्ष 30.04.1984 को रखी गयी। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रथम सूचना एंटीटाइम या एंटीडेट या फेबरिकेटिड है विशेषकर जहां अन्वेषण अधिकारी से इस संबंध में कोई प्रश्न नहीं किये गये। इस संबंध में न्यायदृष्टांत गुईराम मोन्दल विरूद्ध स्टेट ऑफ वेस्ट बंगाल, 2013 (2) काइम्स 324 (एस.सी.) अवलोकनीय है।

यदि प्रथम सूचना प्रतिवेदन की प्रतिलिपि मजिस्ट्रेट को न भेजी हो या विलंब से भेजी हो तो इसका कोई लाभ अभियुक्त को नहीं मिलेगा लेकिन ऐसी प्रतिलिपि न भेजने से मामले को उसके संपूर्ण तथ्यों और परिस्थितियों में देखना चाहिए। मध्यप्रदेश पुलिस रेगुलेशन्स 710 के होते हुए भी धारा 157 दं. प्र.सं. के तहत प्रथम सूचना की प्रतिलिपि संबंधित मजिस्ट्रेट को भेजना आवश्यक है। इस संबंध में न्यायदृष्टांत शिवलाल विरूद्ध स्टेट ऑफ छत्तीसगढ़, (2011) 9 एस.सी.सी. 561 अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत भजन सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, (2011) 7 एस.सी.सी. 421 में न्यायदृष्टांत शिवराम विरूद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., ए.आई.आर. 1998 एस.सी. 49, अरुण कुमार शर्मा विरूद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (2010) 1 एस.सी.सी. 108 को विचार में लेते हुए प्रथम सूचना प्रतिवेदन की प्रतिलिपि मजिस्ट्रेट को विलंब से भेजने के बिन्दु पर विचार किया गया और यह बतलाया गया कि दं.प्र.सं. में कई आन्तरिक एवं वाह्य रोकथाम या जांच पड़ताल के प्रावधान रखे गये हैं उनमें से एक धारा 157 दं.प्र.सं. भी है इसका उद्देश्य यह है कि प्रथम सूचना पूर्व तारीख या पूर्व समय अर्थात् एन्टी डेटेड या एन्टी टाईम न हो। मजिस्ट्रेट को गंभीर मामलों की सूचना तत्काल लग जाये ताकि वह आवश्यक होने पर अनुसंधान को नियंत्रित कर सकें। इस मामले में यह भी कहा गया है कि प्रथम सूचना की प्रतिलिपि यदि विलंब से भेजी गई है तो विलंब के स्पष्टीकरण पर विचार करना चाहिए और यदि स्पष्टीकरण न दिया गया हो तो मामले पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है लेकिन यह मामले की संपूर्ण परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

न्यायदृष्टांत रमेश भाउराव देवस्कर विरूद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, (2007) 13 एस.सी.सी. 501 स्टेट ऑफ राजस्थान विरूद्ध तेजा सिंह, ए.आई.आर. 2001 एस.सी. 990, जगदीश मुरव विरूद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., (2006) 12 एस.सी.सी. 626, सर्वन सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ पंजाब, ए.आई.आर. 1976 एस.सी. 2304, स्टेट ऑफ यू.पी. विरूद्ध गोकरन, ए.आई.आर. 1985 एस.सी. 131, गुरुदेव सिंह विरूद्ध स्टेट आफ पंजाब, ए.आई.आर. 2003 एस.सी. 4187, स्टेट ऑफ पंजाब विरूद्ध करनेल सिंह, ए.आई.आर. 2003 एस.सी. 3609, स्टेट ऑफ जे.एन.के. विरूद्ध मोहन सिंह, ए.आई.आर. 2006 एस.सी. 1410, एन.एच. मोहम्मद अफराद विरूद्ध स्टेट ऑफ केरला, ए.आई.आर. 2009 एस.सी. 731 एवं सरवेस नारायण शुक्ला विरूद्ध दरोगा सिंह, ए.आई.आर. 2008 एस.सी. 108 का उल्लेख, न्यायदृष्टांत भजन सिंह विरूद्ध स्टेट आफ हरियाणा ए.आई.आर. 2011 एस.सी. 2552 में आया है। जिसमें उक्त विधि प्रतिपादित की गई है।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ एम.पी. विरुद्ध कल्याण सिंह, (2011) 9 एस.सी.सी. 569 के अनुसार रेगुलेशन 710, म.प्र. पुलिस रेगुलेशन्स का धारा 157 दं.प्र.सं. पर अध्यारोही या ओवर राईडिंग इफेक्ट नहीं है और रेगुलेशन्स 710 के होते हुए भी प्रथम सूचना प्रतिवेदन की प्रतिलिपि मजिस्ट्रेट को भेजना आवश्यक है।

न्यायदृष्टांत स्टेट विरुद्ध एन. राजामनिक्कम, (2008) 2013 एस.सी.सी. 303 के अनुसार प्रथम सूचना प्रतिवेदन की प्रतिलिपि संबंधित मजिस्ट्रेट को न भेजने से सभी मामलों में अभियोजन के मामले की विश्वसनीयता प्रभावित नहीं होती है बल्कि इस तथ्य को पूरे मामले की अन्य सभी परिस्थितियों के साथ देखना चाहिए और सभी परिस्थितियों का संयुक्त प्रभाव देखना चाहिए।

मुंशीप्रसाद विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, ए.आई.आर. 2001 एस.सी. 3031 के अनुसार यह सही है कि धारा 157 दं.प्र.सं. के तहत प्रथम सूचना प्रतिवेदन की प्रतिलिपि मजिस्ट्रेट को तत्काल भेजना पुलिस थाने के भार साधक अधिकारी के लिए आवश्यक होता है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसा न करने से अभिलेख पर उपलब्ध विश्वास योग्य साक्ष्य को अनदेखा कर दिया जाये न्याय दान की प्रक्रिया में तकनीकियों को ज्यादा महत्व नहीं देना चाहिए यदि न्यायालय यह पाती है कि अभियोजन की उपलब्ध साक्ष्य विश्वास योग्य है तो केवल विलंब से प्रथम सूचना की प्रतिलिपि भेजने मात्र से अभियोजन का मामला डिमोलिश या समाप्त नहीं हो जाता इस मामले में न्यायदृष्टांत पाला सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ पंजाब, ए.आई.आर. 1972 एस.सी. 2679, स्टेट ऑफ कर्नाटका विरुद्ध मोईन पटैल, ए.आई.आर. 1996 एस.सी. 3041 पर विश्वास किया गया है।

न्यायदृष्टांत राजीवन विरुद्ध स्टेट ऑफ केरला, ए.आई.आर 2003 एस.सी. 1813 के अनुसार यदि प्रथम सूचना की प्रतिलिपि भेजने में अनुचित विलंब हुआ है जिसका कोई स्पष्टीकरण भी नहीं है तो यह अभियोजन के मामले को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है लेकिन यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करेगा।

न्यायदृष्टांत गोसु जेरामी रेड्डी विरुद्ध स्टेट ऑफ ए.पी., ए.आई.आर. 2011 एस.सी. 3147 के अनुसार प्रथम सूचना प्रतिवेदन की प्रतिलिपि संबंधित मजिस्ट्रेट को विलंब से भेजना तात्त्विक था लेकिन इस संबंध में अनुसंधान अधिकारी का ध्यान दिलवाया जाना चाहिए था ताकि उसे इस पर स्पष्टीकरण देने का एक अवसर मिल सके उसका स्पष्टीकरण कितना स्वीकार योग्य होता यह न्यायालय के विचार का विषय था इस मामले में अन्वेषण अधिकारी से इस संबंध में कोई भी प्रश्न नहीं किया गया था कि प्रथम सूचना की प्रतिलिपि क्यों विलंब से भेजी गई अतः इसका कोई लाभ बचाव पक्ष को नहीं दिया गया।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ एम.पी. विरुद्ध सुरेश सिंह, 2011 (1) एम.पी. जे.आर. एस.एन. 1 के अनुसार धारा 157 दं.प्र.सं. का अनुपालन न करने के आधार पर अभियुक्त को दोष मुक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रथम सूचना तात्त्विक साक्ष्य नहीं होती है बल्कि पुष्टिकारक साक्ष्य होती है और मात्र इस आधार पर कि प्रथम सूचना की प्रतिलिपि मजिस्ट्रेट को नहीं भेजी गई अभियोजन का मामला कमजोर नहीं हो जाता है।

न्यायदृष्टांत पाण्डुरंग चन्द्रकान्त महात्रे विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, (2009) 10 एस.सी.सी. 773 के अनुसार जहां चक्षु साक्षीगण की साक्ष्य कोजेन्ट या अकाट्य, विश्वसनीय हो वहां प्रथम सूचना प्रतिवेदन की प्रतिलिपि विलंब से भेजना अधिक महत्व नहीं रखता है। न्यायदृष्टांत राधेश्याम विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2008 (1) एम.पी.एच.टी. 512 के अनुसार केवल प्रथम सूचना अभिलिखित करने में और उसकी प्रतिलिपि मजिस्ट्रेट को भेजने में विलंब होने के आधार पर अभियोजन का पूरा मामला डिस्कार्ड या खारिज नहीं किया जा सकता।

न्यायदृष्टांत आलाचीना अप्पाराव विरुद्ध स्टेट ऑफ ए.पी., (2002) 8 एस.सी.सी. 440 के अनुसार धारा 157 दं.प्र.सं. के तहत प्रथम सूचना की प्रतिलिपि विलंब से भेजने से और विलंब का युक्ति-युक्त स्पष्टीकरण न देने के आधार पर अभियोजन का मामला फेंका नहीं जा सकता यदि साक्ष्य विश्वसनीय और स्वीकार योग्य हो। जहां ऐसी परिस्थितियां हो कि कुछ मेनुपुलेशन किया गया है वहां प्रतिकूल अनुमान मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में निकाला जा सकता है।

इस प्रकार वैधानिक स्थिति यह स्पष्ट होती है कि धारा 157 दं.प्र.सं. के तहत प्रथम सूचना प्रतिवेदन की प्रतिलिपि संबंधित मजिस्ट्रेट को तत्काल भिजवाने का प्रावधान इस लिए किया गया है कि प्रथम सूचना लिखने की तारीख और समय पर एक जांच रहे या चैक रहे। यदि ऐसी प्रतिलिपि विलंब से भेजी गई है और विलंब का संतोषजनक स्पष्टीकरण दे दिया गया है तब विलंब से प्रतिलिपि भेजने का कोई प्रभाव नहीं होता है। यदि विलंब का संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं दिया गया हो तब भी न्यायालय को अभियोजन की साक्ष्य की सावधानी से छानबीन करना चाहिए और यदि साक्ष्य परस्पर पुष्टिकारक, विश्वसनीय और स्वाभाविक हो तो मात्र प्रथम सूचना प्रतिवेदन की प्रतिलिपि मजिस्ट्रेट को न भेजने या विलंब से प्रतिलिपि भेजने का संतोषजनक स्पष्टीकरण न देने के आधार पर अभियोजन के पूरे मामले को खारिज नहीं किया जा सकता साथ ही प्रतिरक्षा को अन्वेषण अधिकारी से इस संबंध में प्रश्न करना चाहिए तभी इसका लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

4. अनुसंधान की कमी

अनुसंधान की कमी के आधार पर अभियुक्त को तभी दोषमुक्त किया जा सकता है जब ऐसी कमी से अभियोजन की कहानी पर एक युक्तियुक्त संदेह उत्पन्न होता है इस संबंध में न्यायदृष्टांत गंगा सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (2013) 7 एस.सी.सी. 278 अवलोकनीय है।

जहाँ अनुसंधान की कमी और अनियमितताएं ऐसी हो जो मामले की जड़ तक जाती हो और अभियोजन के कथन को अविश्वसनीय बनाती हो तभी वह अभियोजन के लिए घातक होती है इस संबंध में न्यायदृष्टांत सुनील कुन्दु विरुद्ध स्टेट ऑफ झारखंड (2013) 4 एस.सी.सी. 422 अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत अमर सिंह विरुद्ध बलविन्दर सिंह ए.आई.आर. 2003 एस.सी. 1164 के अनुसार अनुसंधान में कमी पाई जाने पर न्यायालय को साक्ष्य का सावधानी से मूल्यांकन करना चाहिए लेकिन मात्र इस आधार पर दोषमुक्त नहीं की जा सकती कि अनुसंधान में कमी है। इस मामले में न्यायदृष्टांत करनेल सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (1995) 5 एस.सी.सी. 518 को विचार में

लिया गया जिस मामले में यह कहा गया है कि यदि केवल अनुसंधान में कमी के कारण अभियुक्त को दोष मुक्त किया गया तो यह अनुसंधान अधिकारी के हाथ का खेल हो जायेगा।

इस बात को दूसरे शब्दों में कहें तो न्याय अन्वेषण अधिकारी के हाथ में सौंपने के समान हो जायेगा। न्यायदृष्टांत पारस यादव विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (1999) 2 एस.सी.सी. 126 के अनुसार जहां अनुसंधान एजेन्सी ने कुछ लोप किये या कमी की तो यह जानबूझकर या लापरवाही के कारण हो सकती है लेकिन न्यायालय को अभियोजन की साक्ष्य की सावधानी से छानबीन करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि क्या साक्ष्य विश्वसनीय है या नहीं।

न्यायदृष्टांत रामबिहारी यादव विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (1998) 4 एस.सी.सी. 517 के अनुसार ऐसे मामलों में न्यायालय को अभियोजन की साक्ष्य को सावधानी से परीक्षित करना चाहिए अन्यथा ऐसे दोषपूर्ण कृत्य जो जानबूझकर किये गये हैं वे बढ़ेंगे और यह परिवादी पक्ष के साथ न्याय से इन्कार करना होगा और आम लोगों का अनुसंधान एजेन्सी और न्याय प्रशासन से विश्वास कम हो जायेगा।

न्यायदृष्टांत स्टेट आफ यू. पी. विरुद्ध जगदेव, (2003) एस.सी.सी. 456 के अनुसार अनुसंधान में कमी के एक मात्र आधार पर अभियुक्तगण को दोषमुक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि गंभीर अपराध के अभियुक्तगण को इस तरह नहीं छोड़ा जा सकता।

न्यायदृष्टांत धनज सिंह उर्फ शोरा विरुद्ध स्टेट ऑफ पंजाब (2004) 3 एस.सी. सी. 654 के अनुसार जहाँ अनुसंधान में कमी हो वहाँ न्यायालय को साक्ष्य के मूल्यांकन में सतर्क रहना चाहिए लेकिन अनुसंधान की कमी अपने आप में दोष मुक्ति का आधार नहीं हो सकती।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ पंजाब विरुद्ध हाकम सिंह, (2005) 7 एस.सी.सी. 408 के मामले में फायर आर्मस बरामद नहीं किये गये। यह कहा गया कि ऐसे आर्टिकल यदि बरामद भी होते हैं तो केवल पुष्टि कारक साक्ष्य होते अतः अनुसंधान की यह कमी अभियोजन के लिए घातक नहीं हैं।

न्यायदृष्टांत हीरालाल पाण्डे विरुद्ध स्टेट ऑफ यूपी., (2012) 5 एस.सी.सी. 216 के अनुसार अनुसंधान में कमी यदि ऐसी हो जिससे अभियोजन कहानी पर गंभीर संदेह उत्पन्न होता है या अभियुक्त की प्रतिरक्षा पर गंभीर प्रभाव पड़ता है तभी वह घातक होती है। न्यायदृष्टांत शिवशंकर विरुद्ध स्टेट ऑफ झारखंड, ए. आई.आर. 2011 एस.सी. 1403 के अनुसार रक्त से सना टी शर्ट, खाली कारतूस जांच के लिए नहीं भेजे अनुसंधान की इन कमियों के कारण अभियोजन साक्षीगण की साक्ष्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता। न्यायदृष्टांत सी. मुनिअप्पम विरुद्ध स्टेट ऑफ तमिलनाडु, ए.आई.आर. 2010 एस.सी. 3718 के अनुसार अनुसंधान की कमी दोष मुक्ति का आधार नहीं हो सकती न्यायालय को अभियोजन की साक्ष्य की सतर्कता पूर्वक छानबीन करनी चाहिए और उसके आधार पर सत्य का पता लगाना चाहिए लेकिन अनुसंधान की कमी के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए इस संबंध में न्यायदृष्टांत चंद्रकान्त लक्ष्मी विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 220, स्टेट ऑफ कर्नाटक विरुद्ध के. वाय. रेड्डी, ए.आई. आर. 2010 एस.सी. 185, अल्लारख्खा के. मंसूरी विरुद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, ए.आई.आर.

2002 एस.सी. 1051 एवं रामवाली विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., ए.आई.आर. 2004 एस.सी. 2329 भी अवलोकनीय है।

इस प्रकार वैधानिक स्थिति यह स्पष्ट होती है कि अनुसंधान में यदि कमी भी पाई जाती है तो न्यायालय को अभियोजन की साक्ष्य पर सावधानी पूर्वक, सतर्क रहकर विचार करना चाहिए और यदि साक्ष्य परस्पर पुष्टिकारण, विश्वसनीय और स्वीकार किये जाने योग्य हो तो मात्र अनुसंधान की कमियों के आधार पर अभियुक्त को दोषमुक्त नहीं करना चाहिए अन्यथा ऐसी दोषमुक्ति, न्याय अनुसंधान अधिकारी के हाथों में सोंपने के समान होती है।

5. तात्विक साक्षीगण के कथन न करवाना

धारा 114 (जी) भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 के अनुसार न्यायालय यह उपधारित कर सकेगा कि यदि वह साक्ष्य जो पेश किया जा सकता था और पेश नहीं किया गया है, पेश किया जाता तो, उस व्यक्ति के प्रतिकूल होता, जो उसे रोके हुए हैं या पेश नहीं कर रहा है।

न्यायदृष्टांत हरिवदन बाबू भाई पटेल विरुद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, (2013) 7 एस.सी.सी. 45 के अनुसार तात्विक साक्षीगण का कथन न करवाना तब घातक नहीं होता जब अभियोजन ने जो गवाह करवाये हैं उनकी साक्ष्य कोजेन्ट या अकाट्य, विश्वसनीय हो।

इस मामले में न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ एच.पी. विरुद्ध गेनचन्द, (2001) 6 एस.सी.सी. 71 को विचार में लिया गया जिसके अनुसार तात्विक साक्षीगण के कथन न करवाने के कारण अभिलेख पर उपलब्ध साक्षीगण की साक्ष्य को अविश्वसनीय मानने का कोई गणितीय सूत्र नहीं है जब कभी अभियोजन पर तात्विक गवाहों के कथन न करवाना और उन्हें विदहोल्ड करने या रोके रखने का आरोप लगाया जाये तब न्यायालय को इस बिन्दु पर मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के प्रकाश में विचार करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि क्या गवाह उपलब्ध थे फिर भी अभियोजन ने उन्हें रोके रखा और कथन नहीं करवाया। न्यायालय को सर्वप्रथम अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्य की सत्यता का मूल्यांकन करना चाहिए और यदि न्यायालय यह पाती है कि प्रस्तुत की गयी साक्ष्य विश्वास योग्य है तब उसको स्वीकार किया जाना चाहिए। चाहे अन्य गवाह उपलब्ध थे और परीक्षित करवाये जा सकते थे।

न्यायदृष्टांत ताकाजी हीराजी विरुद्ध ठाकुर कुबेर सिंह, चमन सिंह, (2001) 6 एस.सी.सी. 145 भी इस बारे में अवलोकनीय है जिसमें यही स्थिति बतलायी गयी है। न्याय दृष्टांत दहारी विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., (2012) 10 एस.सी.सी. 256 में भी यही प्रतिपादित किया गया है कि जहाँ अभियोजन द्वारा करायी गयी साक्ष्य विश्वसनीय और पुष्टिकारक हो और उसके अन्य उपलब्ध साक्ष्य से पुष्टि होती है तब केवल अन्य तात्विक साक्षीगण के कथन न करवाने से अभियोजन के विरुद्ध कोई प्रतिकूल अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

इस प्रकार जहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो कि अभियोजन ने तात्विक साक्षीगण के कथन नहीं करवाये हैं तब भी न्यायालय को अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्य पर सावधानी से विचार करना चाहिए और यदि साक्ष्य विश्वसनीय और स्वाभाविक पाई जाये तो उसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहिए।

6. अनुसंधान अधिकारी का कथन न करवाना

न्यायदृष्टांत बहरी प्रसाद विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (1996) 2 एस.सी.सी. 317 के अनुसार अनुसंधान अधिकारी का कथन न करवाना अभियोजन के लिए घातक नहीं होता है विशेषकर जहाँ ऐसे कथन न करवाने से अभियुक्त के हितों पर कोई प्रतिकूल असर नहीं पड़ता हो।

न्यायदृष्टांत बहादुर नायक विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (2000) 9 एस.सी.सी. 153 के अनुसार जहाँ कोई तात्त्विक विरोधाभास नहीं लाये गये हो वहाँ अनुसंधान अधिकारी का कथन न करवाने का अभियोजन के विरुद्ध कोई परिणाम नहीं होता है और ऐसे में अभियुक्त के हितों पर कोई प्रतिकूल असर भी नहीं पड़ता है।

न्यायदृष्टांत लाहू कमलाकर पटेल विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, (2013) 6 एस.सी.सी.417 के मामले में यह कहा गया कि जहाँ सूचनाकर्ता ने यह कथन किये कि जब उसके हस्ताक्षर कराये गये तब वह नशे की स्थिति में था, पंचगवाह पक्ष विरोधी हुए थे। कुछ गवाह के कथन करवाये गये थे जिनका उल्लेख धारा 161 दण्ड प्रक्रिया संहिता के कथन में नहीं था यह प्रतिपादित किया गया कि ऐसे में अनुसंधान अधिकारी का कथन करवाना आवश्यक था और कथन न करवाना अभियोजन के लिए घातक है। न्यायदृष्टांत अरविंद विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (2001) 6 एस.सी.सी. 407 ए रतन लाल विरुद्ध स्टेट ऑफ जे.के., (2007) 13 एस.सी.सी. 18 और रविश्वर मानाजी विरुद्ध स्टेट ऑफ झारखण्ड, (2008) 16 एस.सी. सी. 561 में ऐसी परिस्थितियां बतलायी गयी है जहाँ अनुसंधान अधिकारी का कथन करवाना आवश्यक माना गया।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ कर्नाटका विरुद्ध भास्कर के. कोठारकर, (2004) 7 एस.सी.सी. 487 के अनुसार यदि अनुसंधान अधिकारी का कथन नहीं करवाया गया है तो जब तक अभियुक्त के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना न दर्शाया जाये तब तक कथन न करवाना अभियोजन के लिए घातक नहीं होता है।

न्यायदृष्टांत बीरेन्द्र राय विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (2004) 9 एस.सी.सी. 719 के अनुसार अनुसंधान अधिकारी का कथन नहीं करवाया गया वहाँ न्यायालय को यह देखना चाहिए क्या इससे अभियुक्त के हितों पर प्रतिकूल असर गिरा है यदि गिरा है तभी यह अभियोजन के लिए घातक है।

इस प्रकार वैधानिक स्थिति यह स्पष्ट होती है कि जहां अनुसंधान अधिकारी का कथन नहीं करवाया गया है वहाँ न्यायालय को यह देखना चाहिए कि क्या ऐसे कथन न करवाने से अभियुक्त के हितों पर प्रतिकूल असर पड़ा है यदि ऐसा पाया जाता है कि अभियुक्त के हित प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुए हैं तभी ऐसा कथन न करवाना अभियोजन के लिए घातक होता है।

7. मेडीकल साक्ष्य और प्रत्यक्ष साक्ष्य में विरोधाभास होने पर

न्यायदृष्टांत उमेश सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (2013) 4 एस.सी.सी. 360 के अनुसार जहाँ मेडीकल साक्ष्य और चक्षुदर्शी साक्ष्य में परस्पर विरोधी हो वहाँ सामान्य नियम यह है कि प्रत्यक्ष या चक्षुसाक्ष्य को प्राथमिकता दी जानी चाहिए यदि मेडीकल साक्ष्य इस प्रकृति की हो कि वह प्रत्यक्ष या चक्षु साक्ष्य के सही होने की संभावनाओं को पूरी तरह समाप्त कर दें तभी मेडीकल साक्ष्य को प्राथमिकता देना चाहिए।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ हरियाणा विरुद्ध भागीरथ, (1999) 5 एस.सी.सी. 96 के अनुसार चिकित्सक द्वारा दी गयी राय अंतिम शब्द नहीं होते हैं ऐसी राय का परीक्षण न्यायालय को करना चाहिए। जहाँ दो डॉक्टरों ने दो परस्पर विरोधी मत वह दिये हो वहाँ वह मत मानना चाहिए जो मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में अधिक ऑब्जेक्टिव और संभाव्य हो।

न्यायदृष्टांत के अनुसार सोलंकी चिमन भाई, उका भाई विरुद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, (1983) 2 एस.सी.सी. 174 के अनुसार मेडीकल साक्ष्य पुष्टिकारक प्रकृति की होती है जहाँ मेडीकल साक्ष्य इस प्रकृति की हो कि वह प्रत्यक्ष साक्ष्य के द्वारा बतायी गयी विधि से चोटें आने को पूरी तरह असंभव बता दें इतनी असंगतता हो तभी मेडीकल साक्ष्य को प्राथमिकता देनी चाहिए।

न्यायदृष्टांत गंगाभवानी विरुद्ध रायापति वैकट रेड्डी, 2013 सी.आर.एल.जे. 4612 (एस.सी.) के अनुसार जहाँ प्रत्यक्ष साक्ष्य और मेडीकल साक्ष्य में विरोध हो वहाँ सामान्य नियम के अनुसार प्रत्यक्ष साक्ष्य को मेडीकल साक्ष्य की तुलना में मान्यता देना चाहिए। लेकिन जहाँ मेडीकल साक्ष्य इस प्रकृति की हो कि वह प्रत्यक्ष साक्ष्य के सत्य होने की सभी संभावनाओं को समाप्त कर दे तभी मेडीकल साक्ष्य को प्राथमिकता देना चाहिए।

न्यायदृष्टांत थमन कुमार विरुद्ध स्टेट ऑफ यूनियन टेरिटोरी ऑफ चंडीगढ़, (2003) 6 एस.सी.सी. 380 के अनुसार जहाँ मौखिक साक्ष्य और मेडीकल साक्ष्य में विरोधाभास हो वहाँ एक श्रेणी यह हो सकती है जिसके अनुसार किसी हथियार विशेष से सामान्यतः आने वाली चोटें बिल्कुल अनुपस्थित हो या न पाई जाये। दूसरी श्रेणी ऐसी हो सकती है जिसमें हथियार का आकार और डाईमेन्सन चोटों के आकार और डाईमेन्सन से ठीक मिलान न होता हो। तीसरी श्रेणी जहाँ आहत शरीर के किसी भाग पर चोट आना बतला रहा हो वहाँ उस हथियार से सामान्य रूप से जैसी चोटें आती हैं वे शरीर के उस भाग पर न हो।

उक्त तीनों श्रेणियों में मौखिक साक्ष्य और मेडीकल साक्ष्य में विरोधाभास होने पर एक ही प्रकार का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। प्रथम श्रेणी के मामलों में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि साक्षीगण जिस हथियार विशेष से चोटें आना बतला रहे हैं यह सत्य नहीं है लेकिन दूसरी और तीसरी श्रेणी में सीधे ऐसा अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि हमला करने का तरीका, आहत की स्थिति, उसके द्वारा किया गया प्रतिरोध, गवाहों को घटना देखने का अवसर जैसे दूरी, प्रकाश और कई अन्य तथ्य विचार में लेना होते हैं उसके बाद प्रत्यक्ष साक्ष्य की विश्वसनीयता देखना होती है। लिगेचर मार्क की चौड़ाई कपड़े के प्रकार आदि पर निर्भर करती है।

इस मामले में न्यायदृष्टांत पंजाब सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, 1984 सप्लीमेन्ट एस.सी.सी. 233 का उल्लेख किया गया जिसमें यह कहा गया था कि जहाँ प्रत्यक्ष साक्ष्य संतोष जनक और भरोसा करने योग्य हों वहाँ उसे अनुमान पर आधारित मेडीकल साक्ष्य के कारण खारिज नहीं किया जा सकता। न्यायदृष्टांत मोहन सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (1999) 2 एस.सी.सी. 428 के मामले में यह कहा गया है कि जहाँ मेडीकल और प्रत्यक्ष साक्ष्य में विरोधाभास हो वहाँ सत्य का पता लगाने का प्रयास करना चाहिए जो न्यायालय का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् भूसे से दाने को अलग करना चाहिए।

न्यायदृष्टांत मयूर पन्ना भाई शाह विरुद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, ए.आई.आर. 1983 एस.सी. 66 के अनुसार मेडीकल साक्ष्य मुख्य रूप से एक राय हाती है और उसका मूल्य पुष्टीकारक होता है चोट किस प्रकार आ सकती है यह इससे प्रमाणित होता है।

न्यायदृष्टांत के. राजा रेड्डी विरुद्ध पब्लिक प्रासिक्व्यूटर, 2006 ए.आई.आर एस. सी.डब्लू 5021 के अनुसार जहां मौखिक साक्ष्य और मेडीकल साक्ष्य में भिन्नता हो वहाँ मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में क्या ऐसी चोट आना संभव है यह देखेंगे और जहाँ साक्ष्य पुष्टीकारक और स्वाभाविक हो वहाँ केवल मेडीकल साक्ष्य से भिन्नता होने के आधार पर ही उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता।

बासुप्रसाद विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहारए, ए.आई.आर. 2007 एस.सी. 1019 के अनुसार जहां मेडीकल साक्ष्य और मौखिक साक्ष्य में विरोध हो तब न्यायालय को मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में विचार करना चाहिए और यदि प्रत्यक्ष साक्ष्य विश्वास योग्य पाई जाये तो उस पर विश्वास करना चाहिए इस मामले में फायर किस स्थान से किया गया यह प्रश्न था अर्थात फायर कितनी दूरी से किया गया है यह प्रश्न था।

न्यायदृष्टांत अब्दुल सईद विरुद्ध स्टेट ऑफ म.प्र., (2010) 10 एस.सी.सी. 259 के अनुसार जहाँ मेडीकल साक्ष्य और प्रत्यक्ष साक्ष्य में विरोध हो वहाँ प्रत्यक्ष साक्ष्य को अधिक बल दिया जाना चाहिए लेकिन जहाँ मेडीकल साक्ष्य इस प्रकृति की हो कि वह प्रत्यक्ष साक्ष्य के सत्य होने की सभी संभावनाओं को समाप्त कर दें तब प्रत्यक्ष साक्ष्य पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

न्यायदृष्टांत गोसू जे. रेड्डी विरुद्ध स्टेट ऑफ ए.पी., ए.आई.आर. 2011 एस.सी. 3147 के अनुसार एक वीभत्स हत्या के मामले में किसी गवाह के लिए यह आसान नहीं होता कि वह चोटों की संख्या, वे शरीर के किस भाग पर, किस अभियुक्त द्वारा कारित की गई इसका विवरण दे सके साक्ष्य को उसकी पूर्णतः या टोटेलिटि में देखना चाहिए साक्ष्य विश्वसनीय पायी गई।

इस प्रकार विधिक स्थिति यह स्पष्ट होती है कि जहाँ प्रत्यक्ष साक्ष्य और मेडीकल साक्ष्य परस्पर विरोधी हो या उनमें भिन्नता हो तो न्यायालय को प्रत्यक्ष साक्ष्य को अधिक महत्व देना चाहिए क्योंकि मेडीकल साक्ष्य अनुमान पर आधारित राय होती है। यदि मेडीकल साक्ष्य इस निश्चित प्रकृति की हो कि वह मौखिक साक्ष्य के सही होने की सभी संभावनाओं को समाप्त कर दें तभी मेडीकल साक्ष्य को प्रत्यक्ष साक्ष्य की तुलना में अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

8. अभियुक्त की पहचान परेड

धारा 9 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 के अनुसार वे तथ्य जो किसी व्यक्ति या वस्तु का जिनकी अनन्यता सुसंगत हो, अनन्यता स्थापित करते हैं उन्हें सुसंगत माना गया है। यह प्रावधान अभियुक्त या अपराध से संबंधित वस्तु की पहचान के संबंध में है।

न्यायदृष्टांत आर. शाजी विरुद्ध स्टेट ऑफ केरला 2013 (1) काइम्स 217 (एस.सी.) के अनुसार अभियुक्त अधिकार पूर्वक पहचान परेड करवाने का दावा नहीं कर सकता। पहचान परेड की साक्ष्य केवल पुष्टीकारक साक्ष्य होती है पहचान परेड अनुसंधान के दौरान यह सुनिश्चित करने के लिए

करवायी जाती है कि अनुसंधान सही दशा में हो रहा है और पुलिस जिनको संदेही मान रही है वह ही मामले में संबंधित है। इस मामले में यह भी कहा गया कि जहाँ गवाह अभियुक्त को पहले से जानते हो या उनके फोटोग्राफ देख चुके हो या मीडिया में उन्हें एक्सपोज कर दिया हो वहाँ पहचान परेड महत्वहीन होती है।

न्यायदृष्टांत विजय उर्फ चीनी विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (2010) 8 एस.सी.सी. 191, संतोष सिंह विरुद्ध इजहार हुसैन, ए.आई.आर.1973 एस.सी. 2190, स्टेट ऑफ एच .पी. विरुद्ध लेखराज, ए.आई.आर. 1999 एस.सी. 3961, मलखान सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी, ए.आई.आर. 2003 एस.सी. 2669 और मुन्ना कुमार उपाध्याय विरुद्ध स्टेट ऑफ ए.पी., ए.आई.आर. 2012 एस.सी. 2470 इस बारे में अवलोकनीय है।

ऐसे व्यक्ति जिनको प्रकाश के बिना रहने की आदत हो और जो अभियुक्त को पहले से जानते हों वे व्यक्ति अभियुक्त को आवाज से पहचान सकते हैं इस संबंध में न्यायदृष्टांत शिवराज बी. जाधव विरुद्ध स्टेट ऑफ कर्नाटका, (2003) 6 एस.सी.सी. 392 अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत दीपक उर्फ वायरलेस विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, (2012) 8 एस.सी.सी. 785 के अनुसार गंभीर रूप से आहत साक्षी जिसने सभी अभियुक्त गण को निकट से देखा हो और उनके कन्डक्ट का निरीक्षण किया हो साक्षी ने विचारण के दौरान अभियुक्त को पहचाना हो उनका विवरण, उनके कपड़ों का विवरण, शारीरिक विशेषताएं बतलायी हो ऐसे में अनुसंधान के दौरान पहचान परेड नहीं भी करवायी गयी हो तब भी न्यायालय में की गयी पहचान पर विश्वास किया जा सकता है इस संबंध में न्यायदृष्टांत दाना यादव विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (2002) 7 एस.सी.सी. 295, सीमन विरुद्ध स्टेट ऑफ कर्नाटका, (2004) 2 एस.सी.सी. 694 और दयासिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, (2001) 3 एस.सी.सी. 468 अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत श्यामल घोष विरुद्ध स्टेट ऑफ वेस्ट बंगाल, ए.आई.आर. 2012 एस.सी. 3539 के अनुसार पहचान परेड कराने के पीछे यह विचार होता है कि गवाह घटना के समय जिस व्यक्ति को संदेही के रूप में देखना कह रहे हैं उसे चैक किया जा सके।

गवाहों की याद दाश्त को चैक किया जा सके। दं.प्र.सं. में अनुसंधान अधिकारी पर ऐसी कोई बाध्यता नहीं है कि वह पहचान परेड करवाये और ऐसी पहचान परेड न करवाने के कारण गवाहों द्वारा न्यायालय में की गई पहचान अग्राह्य नहीं हो जाती है ऐसा कोई नियम नहीं है कि गवाहों द्वारा न्यायालय में प्रथम बार की गई पहचान को दोष सिद्धि का आधार नहीं बनाया जा सकता। पहचान परेड केवल एक प्रज्ञा का नियम है इस मामले में न्यायदृष्टांत मुंशी सिंह गौतम विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., ए.आई.आर. 2005 एस.सी. 402 और शिवशंकर सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ झारखंड, ए.आई.आर. 2011 एस.सी. 1403 का उल्लेख किया गया है।

इस मामले में यह भी पाया गया कि पहचान परेड अनुसंधान का एक टूल या औजार होता है जो एक ओर अभियोजन के मामले को मजबूत करने के लिए उपयोग में लाया जाता है और यह सुनिश्चित करने के लिए कि जिस व्यक्ति को अभियुक्त बतलाया जा रहा है वही वास्तविक अपराधी है, पहचान परेड करवाई जाती है। पहचान परेड का केवल पुष्टिकारण महत्व होता है।

न्यायदृष्टांत अमित विरूद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., ए.आई.आर. 2012 एस.सी. 1433 के अनुसार जहाँ गवाह पहले से अभियुक्त को नहीं जानते हो वहाँ पहचान परेड आवश्यक होती है। न्याय दृष्टांत सैयद दारेन अहसान विरूद्ध स्टेट ऑफ वेस्ट बंगाल, ए.आई.आर. 2012 एस.सी. 1286 के अनुसार जहाँ प्रत्यक्ष साक्षी के लिए अभियुक्त अंजान व्यक्ति हो वहाँ पहचान परेड आवश्यक होती है लेकिन जहाँ अभियुक्त और प्रत्यक्ष साक्षी एक ही लोकैलिटी में रहते हों और एक दूसरे को जानते हों वहाँ पहचान परेड आवश्यक नहीं होती है।

न्यायदृष्टांत मुन्ना कुमार उपाध्याय विरूद्ध स्टेट ऑफ ए.पी., (2012) 6 एस.सी. सी.147 के अनुसार पहचान परेड का विलंब से करवाना हर मामले में अभियोजन के लिए घातक नहीं होता है। इस मामले में यह भी कहा गया है कि अभियुक्त का फोटो कई महिने पहले अखबार में प्रकाशित हुआ था अतः उसके आधार पर पहचान परेड प्रभावित नहीं होती है।

न्यायदृष्टांत कान्ता प्रसाद विरूद्ध देहली एडमिनिस्ट्रेशन, ए.आई.आर. 1958 एस. सी. 350, वी. चंद्रप्पश विरूद्ध स्टेट ऑफ ए.पी., ए.आई.आर. 1960 एस.सी. 1340, बुद्धसेन विरूद्ध स्टेट ऑफ यू.पी. ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 1321 और रानेश्वर सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ जे. के. ए.आई.आर. 1972 एस.सी. 102 का उल्लेख उक्त शिवशकर सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ झारखंड के मामले में किया गया और यह कहा गया कि यदि एक गवाह के लिए पहचान परेड करवाई गई और अन्य गवाह के लिए नहीं करवाई गई तो यह अपने आप में अभियोजन के लिए घातक नहीं होता है और न्यायालय में की गई पहचान तात्विक साक्ष्य होती है और पहचान परेड की साक्ष्य पुष्टि कारक साक्ष्य होती है।

न्यायदृष्टांत मलखान सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., ए.आई.आर. 2003 एस.सी. 2669 के अनुसार यदि अनुसंधान के दौरान पहचान परेड नहीं करवाई गई है तो यह न्यायालय में की गई पहचान को अग्राह नहीं कर देगा क्योंकि न्यायालय में की गई पहचान तात्विक साक्ष्य होती है और पहचान परेड की साक्ष्य पुष्टि कारक साक्ष्य होती है।

न्यायदृष्टांत अनिल कुमार विरूद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., (2003) 3 एस.सी.सी. 569 के मामले में पहचान परेड करवाने में 47 दिन का विलंब हुआ था जिसे घातक नहीं माना गया था। इसी तरह ब्रजमोहन विरूद्ध स्टेट ऑफ राजस्थान, (1984) 1 एस.सी.सी. 413 में तीन माह के पश्चात् पहचान परेड करवाई गई थी। न्यायदृष्टांत दया सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, ए.आई.आर. 2001 एस.सी. 1188 में आठ साल के विलंब से पहचान परेड करवाई गई थी क्योंकि अभियुक्तगण साढ़े सात वर्ष बाद गिरफ्तार हुए थे विलंब को घातक नहीं माना गया था।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ यू.पी. विरूद्ध बाबू 2003 ए.आई.आर. एस.सी.डब्लू के मामले में गवाहों के अनुसार उन्होंने अभियुक्त को टार्च की रोशनी में पहचाना टार्च का उल्लेख प्रथम सूचना और पुलिस कथन में नहीं कहा गया था इसे महत्वपूर्ण नहीं माना गया था यही विधि न्यायदृष्टांत शक्ति पात्रा विरूद्ध स्टेट ऑफ बेस्ट बंगाल, 2003 ए.आई.आर. एस. सी. डब्लू 4841 और अहीर पीथा वाजसि विरूद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, ए.आई.आर. 1983 एस.सी. 599 में भी प्रतिपादित की गई।

न्यायदृष्टांत सीमन विरुद्ध स्टेट ऑफ कर्नाटका, (2004) 2 एस.सी.सी. 694 के अनुसार विचारण में प्रथम बार अभियुक्त को पहचानने की साक्ष्य सामान्यतः दुर्बल प्रकृति की साक्ष्य होती है उचित मामलों में ऐसी साक्ष्य पर पुष्टि के अभाव में भी दोष सिद्धि स्थिर की जा सकती है।

न्यायदृष्टांत दाना यादव विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (2002) 7 एस.सी.सी. 295 के मामले में पहचान परेड की विधिक स्थिति को इस प्रकार बतलाया गया है :-

1. यदि अभियुक्त को अभियोजन साक्षी पहले से अच्छी तरह जानते हो तब पहचान परेड की कोई आवश्यकता नहीं होती है और यह अर्थहीन होती है इससे केवल लोक समय नष्ट होता है।
2. जहाँ अभियोजन के अनुसार अभियोजन साक्षी गण अभियुक्त को जानते है लेकिन अभियुक्त इससे इन्कार करता है और अपनी पहचान साक्षी गण द्वारा किये जाने की चुनौती देता है और एक आवेदन अनुसंधान के दौरान, पहचान परेड करवाने के लिए लगाता है तब न्यायालय अभियुक्त के इस इन्कार की सद्भावना पर विचार करेगा और यदि इन्कार सद्भावना पूर्वक पाया जाये तो अभियुक्त की प्रार्थना स्वीकार कर सकता है और यदि आवेदन दुर्भावना पूर्ण पाता है तो आवेदन अस्वीकार कर सकता है।
3. अभियुक्त की न्यायालय में की गयी पहचान तात्विक साक्ष्य होती है और पहचान परेड में की गयी पहचान उस साक्ष्य की पुष्टिकारक साक्ष्य होती है। अनुसंधान के दौरान अनुसंधान अधिकारी पहचान परेड इसलिए करवाता है कि वह यह देखना चाहते है कि अनुसंधान सही व्यक्ति के विरुद्ध या सही दिशा में हो रहा है या नहीं। अनुसंधान के दौरान पहचान परेड न करवाना न्यायालय में की गयी पहचान को अग्राह्य नहीं करता है लेकिन प्रथम बार गवाह की गयी पहचान को दोषसिद्धि का आधार नहीं बनाना चाहिए क्योंकि यह दुर्बल प्रकृति की साक्ष्य होती है जब तक की इसकी पुष्टि पूर्व के पहचान परेड से न होती हो।
4. अपवाद स्वरूप परिस्थितियों में न्यायालय में की गयी प्रथम बार की पहचान को भी बिना किसी पुष्टि के अभाव में दोषसिद्धि का आधार बनाया जा सकता है।
5. सामान्यतः यदि अभियुक्त का नाम प्रथम सूचना प्रतिवेदन में नहीं लिखवाया हो तब न्यायालय में की गयी पहचान पर विश्वास नहीं करना चाहिए। विशेष स्वरूप से जब वह पुलिस का नाम नहीं बतलाते है। लेकिन इस सामान्य नियम के भी अपवाद हो सकते है जैसा कि ऊपर बतलाया गया है। इस तरह दानायादव के उक्त मामले में धारा 9 भारतीय साक्ष्य अधिनियम की वैधानिक स्थिति को विस्तार से बतलाया गया है।

इस प्रकार वैधानिक स्थिति यह स्पष्ट होती है कि जहां अभियोजन साक्षीगण अभियुक्त से पूर्व से परिचित हो वहां पहचान परेड करवाई जाना आवश्यक नहीं होता है। जहाँ अभियोजन साक्षीगण अभियुक्त से अनजान हो या उसे पूर्व से नहीं जानते हों वहाँ पहचान परेड करवाना चाहिए।

पहचान परेड अनुसंधान के दौरान केवल यह देखने के लिए करवाई जाती है कि साक्षीगण जिसे अपराध का संदेही बतला रहे हैं वास्तव में वही असली अभियुक्त है और अनुसंधान सही दिशा में हो रहा है। अनुसंधान अधिकारी के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रत्येक मामले में पहचान परेड करवाये।

पहचान परेड की साक्ष्य पुष्टि कारक साक्ष्य होती है और न्यायालय में की गई पहचान की साक्ष्य तात्त्विक साक्ष्य होती है। न्यायालय में प्रथम बार की गई पहचान के आधार पर भी दोषसिद्धि स्थिर की जा सकती है। न्यायालय का यह भी ध्यान रखना चाहिए कि साक्षी को यदि अभियुक्त को देखने का घटना के दौरान ही पर्याप्त अवसर मिला हो तब भी पहचान परेड आवश्यक नहीं होती है।

9. न्यायिकेतर संस्वीकृति

भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 की धारा 24, 25, 26 में संस्वीकृति के बारे में प्रावधान है। न्यायिकेतर संस्वीकृति यदि स्वेच्छया से की गयी हो और सत्य प्रमाणित हो तो जिस व्यक्ति से वह की गयी हो, जिन परिस्थितियों में की गयी हो उसे ध्यान में रखते हुए उसे दोषसिद्धि का आधार बनाया जा सकता है।

इस संबंध में न्यायदृष्टांत आर. कुप्पू स्वामी विरुद्ध स्टेट, (2013) 3 एस.सी.सी. 322 अवलोकनीय है। न्यायदृष्टांत गुरासिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ राजस्थान, (2001) 2 एस.सी.सी. 205 के अनुसार न्यायिकेतर संस्वीकृति की साक्ष्य चाहे अन्तरनिहित रूप से कमजोर होती है लेकिन उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता यदि वह स्वेच्छया से की गयी हो और सत्य हो। इसकी पुष्टि केवल सावधानी के लिए मांगी जाती है यदि न्यायालय यह पाती है जिस व्यक्ति से न्यायिकेतर संस्वीकृति की गयी है वह सत्य कथन कर रहा है तब केवल न्यायिकेतर संस्वीकृति के आधार पर दोषसिद्धि की जा सकती है इस संबंध में न्यायदृष्टांत सहदेवन विरुद्ध स्टेट ऑफ तमिलनाडु, (2012) 6 एस.सी.सी. 403, बलवीर सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ पंजाब, 1996 एस.सी.सी. (क्रिमिनल) 1158 और जसपाल सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ पंजाब, (1997) 1 एस.सी.सी. 510 भी अवलोकनीय हैं।

न्यायदृष्टांत हेमराज विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2013 (5) एम.पी. एच.टी. 80 (डी.बी.) के अनुसार गाँव के चौकीदार और पटैल से की गई न्यायिकेतर संस्वीकृति साक्ष्य में ग्राह्य होती है यह तथ्य कि धारा 230 एम.पी.एल.आर.सी. 1959 एवं धारा 40 सी.आर.पी.सी. के तहत गाँव का चौकीदार और पटैल गाँव में हुए अपराध की सूचना पुलिस को देने के लिए बाध्य होते हैं, उन्हें पुलिस अधिकारी नहीं बना देता। न्यायदृष्टांत गोपाल सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2002 (2) ए.एन.जे. (एम.पी.) 977 के अनुसार यदि न्यायिकेतर संस्वीकृति स्वेच्छा से की गई हो और विश्वसनीय पाई जाये तो उसे दोष सिद्धि का आधार बनाया जा सकता है इस मामले में न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ पंजाब विरुद्ध गुरुदीप सिंह, जेटी 1999 (6) एस.सी. 514 को विचार में लिया गया है। साथ ही न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ यूपी. विरुद्ध एम.के. एन्थोनी, 1985 सी.आर.एल.जे.493 एस.सी. को भी विचार में लिया गया जिसके पैरा 15 के अनुसार यह विधि का या प्रज्ञा का नियम नहीं है कि न्यायिकेतर संस्वीकृति पर पुष्टि के अभाव में विश्वास नहीं किया जा सकता।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ केरला विरुद्ध एम.एन. राम दास, (2002) 7 एस.सी.सी. 639 के अनुसार न्यायिकेतर संस्वीकृति किसी अनजान व्यक्ति के समक्ष की गई यह अभियुक्त का एक अस्वभाविक आचरण हो सकता है लेकिन मात्र इस कारण ऐसी संस्वीकृति को खारिज नहीं किया जा सकता।

न्यायदृष्टांत रावशिव बहादुर सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., ए.आई.आर. 1954 एस.सी. 322 और मगहरसिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ पंजाब, (1975) 4 एस.सी.सी. 234 के अनुसार न्यायिकेतर संस्वीकृति जो अभियुक्त द्वारा गवाहों के समक्ष की जाती है उसे हमेशा दूषित साक्ष्य नहीं कहा जा सकता ऐसी साक्ष्य की पुष्टि केवल सावधानी के लिए मांगी जाती है यदि संस्वीकृति न्यायालय स्वेच्छा से की जाना और सही होना पाती है तो उस पर दोष सिद्धि स्थिर की जाती है।

न्यायदृष्टांत नारायण सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (1985) 4 एस.सी.सी. 26 के अनुसार न्यायालय के लिए यह उचित नहीं है कि वह ऐसी उपधारणा के साथ कार्य करें कि न्यायिकेतर संस्वीकृति हमेशा ही दुर्बल प्रकृति की साक्ष्य होती है। यह तथ्य प्रकरण की परिस्थितियों जिन गवाहों के समक्ष संस्वीकृति की गई उनकी विश्वसनीयता आदि पर निर्भर करता है।

न्यायदृष्टांत किशोर चंद्र विरुद्ध स्टेट ऑफ एच.पी., (1991) 1 एस.सी.सी. 286 के अनुसार एक असंदिग्ध न्यायिकेतर संस्वीकृति की उच्च प्रोबेटिव वेल्यू होती है।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ राजस्थान विरुद्ध राजाराम, (2003) 8 एस.सी.सी. 180 के अनुसार जहां न्यायिकेतर संस्वीकृति स्वेच्छा पूर्वक की जाना और विश्वास योग्य पाई जाये उसे दोषसिद्धि का एकमात्र आधार बनाया जा सकता है।

न्यायदृष्टांत शिवकुमार विरुद्ध स्टेट, (2006) 1 एस.सी.सी. 714 के अनुसार न्यायिकेतर संस्वीकृति की साक्ष्य दुर्बल प्रकृति की हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है प्रत्येक मामले को उसके तथ्यों के प्रकाश में देखना चाहिए।

न्यायदृष्टांत सिद्धार्थ विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (2005) 12 एस.सी.सी. 545 के अनुसार अभियुक्त द्वारा की गई स्वीकारोक्ति स्वैच्छिक प्रकृति की थी और किसी भय या वचन के अधीन नहीं की गई थी इसे स्वीकार योग्य पाया गया।

न्यायदृष्टांत पैरासिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ पंजाब, (1977) 4 एस.सी.सी. 452 के अनुसार मामले में न्यायिकेतर संस्वीकृति एक स्वतंत्र व्यक्ति के समक्ष की गई थी सेशन न्यायाधीश ने उस पर पुष्टि के अभाव में विश्वास न करने पर त्रुटि की है।

न्यायदृष्टांत अनिल शर्मा विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2006 (4) एम.पी.एच.टी. 278 (डी.बी.) के अनुसार न्यायिकेतर संस्वीकृति यदि स्वेच्छा से न की गई हो तो साक्ष्य में ग्राह्य नहीं होती है। इस मामले में अभियुक्त के साथ मारपीट की गई थी जिस पर उसने संस्वीकृति की थी इसे ग्राह्य नहीं माना गया।

न्यायदृष्टांत अजय सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, ए.आई.आर. 2007 एस.सी. 2188 के अनुसार न्यायिकेतर संस्वीकृति का अभियुक्त द्वारा प्रयोग किये गये उन्हीं शब्दों में होना आवश्यक नहीं है लेकिन तात्त्विक और बड़ा अन्तर नहीं होना चाहिए।

न्यायदृष्टांत बिष्णु प्रसाद सिन्हें विरुद्ध स्टेट ऑफ असम, ए.आई.आर. 2007 एस.सी. 848 के अनुसार यदि न्यायिकेतर संस्वीकृति स्वेच्छा से की गई है तो न्यायालय उसे दोषसिद्धि का आधार बना सकती है।

न्यायदृष्टांत शिवाकरम पाया स्वामी तेवर विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, ए.आई. आर. 2009 एस.सी. 169 के मामले में न्यायिकेतर संस्वीकृति के संबंध में विधि स्पष्ट की गई है और यह प्रतिपादित किया है कि इसके आधार पर दोषसिद्धि स्थिर की जा सकती है यदि संस्वीकृति स्पष्ट, असंदिग्ध और स्वेच्छा से की गई हो। अभियुक्त द्वारा कहे गये शब्दों को साक्षी गण बिल्कुल उसी प्रकार दोहराये यह आवश्यक नहीं है लेकिन उनमें तात्विक और बड़ा अन्तर नहीं होना चाहिए। यह मामला न्यायिकेतर संस्वीकृति के बारे में वैधानिक स्थिति स्पष्ट करता है।

न्यायदृष्टांत चतर सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, ए.आई.आर. 2009 एस.सी. 378 में भी यह प्रतिपादित किया गया है जहां संस्वीकृति स्वेच्छा से की गई हो वह सत्य हो तथा सही मानसिक स्थिति में की गई हो तब उसका मूल्य जिन गवाहों के सामने की गई जिस समय और जिन परिस्थितियों में की गई उन सब के प्रकाश में देखा जाता है।

न्यायदृष्टांत मुन्ना कुमार उपाध्याय विरुद्ध स्टेट ऑफ ए.पी., (2012) 6 एस.सी.सी. 147 के अनुसार न्यायिकेतर संस्वीकृति जो डॉक्टर को इलाज के समय हिस्ट्री लिखते समय बतलाई गई वह ग्राह्य होती है क्योंकि यह एक लोकसेवक द्वारा कर्तव्यों के निर्वाह के दौरान तैयार की जाती है।

इस प्रकार न्यायिकेतर संस्वीकृति यदि अभियुक्त द्वारा स्वेच्छा से की जाना प्रमाणित होता है न्यायालय ऐसी संस्वीकृति के बारे में साक्ष्य देने वाले गवाहों को विश्वसनीय और सत्य पाती है तो न्यायिकेतर संस्वीकृति की एक मात्र साक्ष्य के आधार पर भी दोषसिद्धि स्थिर की जा सकती है।

10. धारा 161 दं.प्र.सं. का कथन विलंब से लेना

जहाँ किसी गवाह का धारा 161 दं.प्र.सं. का कथन लेखबद्ध करने में विलंब हुआ हो वहाँ ऐसा कोई यूनिवर्सल नियम नहीं बनाया जा सकता कि अभियोजन का मामला इससे संदेहास्पद हो जायेगा। विलंब के कारण जो बतलाये गये हैं उन पर विचार करना चाहिए और यदि वह स्वीकार योग्य हो तो उनको स्वीकार करना चाहिए। इस संबंध में न्यायदृष्टांत गोधराज उर्फ गोधा विरुद्ध स्टेट ऑफ जम्मू कश्मीर, (2002) 8 एस.सी.सी. 45 अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत रनबीर विरुद्ध स्टेट ऑफ पंजाब, ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 1409 के अनुसार विलंब के कारण के बारे में अनुसंधान अधिकारी से विशेष रूप से प्रश्न पूछना चाहिए यदि अभियुक्त विलंब से कथन लेने का अभिवाक उठाता है।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ यूपी. विरुद्ध सतीश, (2005) 3 एस.सी.सी. 114 के अनुसार जहां गवाह के कथन अनुसंधान अधिकारी ने विलंब से लेखबद्ध किये हों और विलंब का संतोषजनक स्पष्टीकरण दिया हो वहां उसके विरुद्ध कोई प्रतिकूल अनुमान नहीं लगाया जा सकता ऐसा कोई यूनीवर्सल नियम नहीं बनाया जा सकता कि विलंब से गवाह का कथन लेखबद्ध करने से अभियोजन का मामला संदेहास्पद हो जाता इस मामले में न्यायदृष्टांत बंटी विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (2004) 1 एस.सी.सी. 414 को भी विचार में लिया गया।

न्यायदृष्टांत श्यामल घोष विरुद्ध स्टेट ऑफ बेस्ट बंगाल, ए.आई.आर. 2012 एस.सी. 3539 के अनुसार गवाहों के कथन विलंब से लेखबद्ध करने के कई कारण होते हैं जैसे गवाहों का उपलब्ध होना, अनुसंधान अधिकारी का किसी फरार अभियुक्त को पकड़ने में व्यस्त रहना, मामले के किसी अन्य पहलु पर जो अधिक महत्वपूर्ण और अत्यावश्यक हो उसमें अनवेषण अधिकारी का व्यस्त रहना आदि। इस मामले में गवाह गरीब वर्ग के थे और वे आजीविका के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान चले जाते थे अतः विलंब से कथन लेने को घातक नहीं माना गया।

न्यायदृष्टांत शिवशंकर सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ झारखंड, ए.आई.आर. 2011 एस. सी. 1403 के अनुसार गवाह का कथन विलंब से लेना यह प्रत्येक मामले में अभियोजन को संदेहास्पद नहीं बनाता और ऐसा कोई यूनिवर्सल नियम नहीं बनाया जा सकता।

न्यायदृष्टांत सतबीर सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ यूपी., ए.आई.आर. 2009 एस.सी. 2163 के मामले में यह कहा गया था गवाह का कथन विलंब से लेखबद्ध करवाना अभियोजन के लिए घातक नहीं है यदि अभियोजन ने विलंब से कथन लेखबद्ध करने का स्पष्टीकरण दिया है।

न्यायदृष्टांत टिल्लू उर्फ प्रहलाद विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., आई.एल.आर. 2010 एम.पी. 1181 के अनुसार गवाह का कथन घटना के 22 दिन बाद लेखबद्ध किया गया गवाह के अनुसार वह बीमार होने से इलाज के लिए बाहर गया था स्पष्टीकरण को उचित माना गया। इस प्रकार यदि अनुसंधान के दौरान किसी गवाह का धारा 161 दं.प्र.सं. का कथन विलंब से लेखबद्ध किया गया है तो अन्वेषण अधिकारी से इस संबंध में प्रश्न पूछना चाहिए ताकि वह विलंब के बारे में यदि कोई स्पष्टीकरण हो तो दे सके। उस स्पष्टीकरण पर विचार करना चाहिए। केवल विलंब से कथन लेखबद्ध करना संबंधित साक्षी की साक्ष्य को अविश्वसनीय मानने का आधार नहीं हो सकता।

11. प्रथम सूचना दर्ज करवाने में हुए विलंब के बारे में

दाण्डिक प्रकरण के निराकरण के समय एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रथम सूचना विलंब से दर्ज करवायी गयी है ऐसे प्रश्न उत्पन्न होने पर हमें विलंब के कारणों पर भी विचार करना चाहिए।

न्यायदृष्टांत गंगा भवानी विरुद्ध रायापाति वेंकट रेड्डी, 2013 सी.आर.एल.जे. 4612 एस.सी. के अनुसार जहां प्रथम सूचना विलंब से दर्ज करवायी गयी हो वहाँ न्यायालय को अभियोजन द्वारा विलंब के जो कारण बतलाये गये हैं उनका परीक्षण करना चाहिए न्यायालय को देखना चाहिए कि क्या विलंब अयुक्तियुक्त है और उसका स्पष्टीकरण भी नहीं दिया गया है और यह मामले को जड़ तक प्रभावित करता है इस मामले में न्याय दृष्टांत पी. वेंकटस्वरालू विरुद्ध स्टेट ऑफ ए.पी., ए.आई.आर. 2003 एस.सी. 574, स्टेट ऑफ यूपी. विरुद्ध मुनेश लिया गया।

न्यायदृष्टांत कुलवंत सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ पंजाब, (2013) 4 एस.सी.सी. 177 के अनुसार दहेज हत्या के मामले में 14.10.1988 को घटना हुई रासायनिक परीक्षण प्रतिवेदन 02.10.1988 को प्राप्त हुआ उसके बाद प्रथम सूचना दर्ज की गयी सूचनाकर्ता लिखित आवेदन लेकर थाने पर गया था यह कहा नहीं जा सकता की प्रथम सूचना दर्ज करवाने में विलंब हुआ।

न्यायदृष्टांत एम. सर्वना विरूद्ध स्टेट ऑफ कर्नाटका 2013 (1) काइम्स 371 (एस.सी.) के अनुसार प्रत्यक्ष साक्षी या कोई अन्य व्यक्ति जो कि गंभीर रूप से घायल आहत को पहले अस्पताल ले जाता है और थाने पर नहीं जाता है, डॉक्टर सबसे पहले ऐसे व्यक्ति को चिकित्सा सहायता और उसका जीवन बचाने का प्रयास करता है बजाय पुलिस को सूचना देने के ऐसे में यह नहीं कहा जा सकता कि प्रथम सूचना दर्ज करवाने में विलंब हुआ है। इस मामले में यह भी कहा गया है कि प्रथम सूचना किसी भी व्यक्ति द्वारा दर्ज करवायी जा सकती है और टेलीफोन पर भी दर्ज करवायी जा सकती है यह आवश्यक नहीं है कि प्रथम सूचना केवल प्रत्यक्ष साक्षी द्वारा ही दर्ज करवाये।

न्यायदृष्टांत बजरेश वेंकटराय अनवेकर विरूद्ध स्टेट ऑफ कर्नाटका, (2013) 3 एस.सी.सी. 462 के अनुसार जहाँ किसी व्यक्ति की पुत्री जहर खाने के कारण मर गयी हो वहाँ उस व्यक्ति का विचलित हो जाना स्वाभाविक है ऐसे शॉक से उभरने में उसे कुछ समय लगता है ऐसे में प्रथम सूचना दर्ज करवाने में छः घंटे का विलंब अस्वाभाविक नहीं है।

न्यायदृष्टांत हीरालाल पांडे विरूद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., (2012) 5 एस.सी.सी. 216 के अनुसार जहाँ प्रथम सूचना में घटना के समय के बारे में अन्तर हो और ऐसी कोई साक्ष्य न हो कि प्रथम सूचना में घटना के समय पहले पेंसिल से लिखा गया था और फिर ओरव राइटिंग करके पेन से लिखा गया तब तक प्रथम सूचना में अंकित समय में संदेह नहीं किया जा सकता।

न्यायदृष्टांत राकेश विरूद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (2011) 9 एस.सी.सी. 698 के अनुसार जहाँ प्रथम सूचना घटना के तत्काल बाद दर्ज करवायी गयी हो और उसमें घटना के सभी विवरण विस्तार से लिखे हो तो यह उसमें लिखे तथ्यों के सही होने का एश्योरेंस देता है।

इस संबंध में न्यायदृष्टांत किशन सिंह विरूद्ध गुरुपाल सिंह, ए.आई.आर. 2010 एस.सी. 3624 भी अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत जयप्रकाश सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (2012) 4 एस.सी.सी. 379 के अनुसार प्रथम सूचना तत्काल दर्ज करवाने का उद्देश्य अपराध जिन परिस्थितियों में हुआ उसकी सूचना पाना, वास्तविक अपराधों के नाम और उनकी भूमिका तथा प्रत्यक्ष साक्षी गण के नाम ज्ञात करना होता है और यदि विलंब होता है तो यह लाभ कम होते जाते हैं इस मामले में न्यायदृष्टांत थुलिया काली विरूद्ध स्टेट ऑफ तमिलनाडु, ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 501, स्टेट ऑफ पंजाब विरूद्ध सुजाराम, ए.आई.आर. 1995 एस.सी. 2413, गिरीश यादव विरूद्ध स्टेट ऑफ एम.पी. (1996) 8 एस.सी.सी. 186 और तकदीर समसुद्दीन शेख विरूद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, ए.आई.आर. 2012 एस.सी. 37 को भी विचार में लिया गया।

न्यायदृष्टांत गुरुदेव सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (2011) 5 एस.सी.सी. 721 के मामले में 17.11.1986 को रात्रि 8 बजे हत्या हुई मृतक घटना स्थल पर नहीं पाया गया अतः सूचना कर्ता और प्रत्यक्ष साक्षी रात भर उसे ढूँढते रहे और नाले में उसकी लाश मिलने के बाद प्रथम सूचना 18.11.1986 को दर्ज करवायी गयी। यह कहा गया कि मामले में प्रथम सूचना दर्ज करवाने में हुए विलंब का पर्याप्त कारण था।

न्यायदृष्टांत भागानाल लोध विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., ए.आई.आर. 2011 एस.सी. 2292 के अनुसार घटना रात 9 बजे हुई प्रथम सूचना सुबह 6 बजे दर्ज करवायी गयी थाना 18 किलोमीटर दूर था परिवादी के अनुसार वह अभियुक्तगण के डर से पुलिस स्टेशन नहीं जा सका था विलंब का कारण उचित माना गया।

इस मामले में यह कहा गया कि यदि विलंब का उचित कारण दिया जाता है तो यह अभियोजन के मामले को प्रभावित नहीं करता है लेकिन दुर्भावना पूर्वक किया गया विलंब हमेशा घातक होता है इस मामले में न्यायदृष्टांत साहिब सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, ए.आई.आर. 1997 एस.सी. 3247, जॉर्ज पेन्टेन विरुद्ध स्टेट ऑफ ए.पी., (2008) 12 एस.सी.सी. 531 और किशन सिंह विरुद्ध गुरुपाल सिंह, ए.आई.आर. 2010 एस.सी. 3624 का उल्लेख किया गया।

न्यायदृष्टांत ओमप्रकाश विरुद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, ए.आई.आर. 2011 एस.सी. 2682 के अनुसार जब एक जवान लड़की बलात्कार के दर्द से गुजरती है तो वह घटना का विवरण किसी को यहाँ तक के परिवार के सदस्यों को भी बताने में अनिच्छुक रहती है अभियोक्ति ने जैसे ही घटना का विवरण परिवार वालों का बतलाया प्रथम सूचना दर्ज करवायी गयी विलंब को घातक नहीं माना गया।

न्यायदृष्टांत गोशू जे. रेड्डी विरुद्ध स्टेट ऑफ ए.पी., ए.आई.आर. 2011 एस.सी. 3147 के मामले में 1 घंटे के विलंब के घातक नहीं माना गया।

न्यायदृष्टांत शंभू दास विरुद्ध स्टेट ऑफ असम, ए.आई.आर. 2010 एस.सी. 3300 के अनुसार इनक्वेस्ट रिपोर्ट के बाद प्रथम सूचना दर्ज करना यह प्रत्येक मामले में प्रथम सूचना की विश्वसनीयता को समाप्त नहीं करता क्योंकि ऐसा कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता कि इनक्वेस्ट रिपोर्ट के बाद प्रथम सूचना दर्ज करना उसकी विश्वसनीयता को समाप्त कर देता है इस मामले में इनक्वेस्ट रिपोर्ट की आवश्यकता और उसके उद्देश्य को भी स्पष्ट किया गया। पिता के घर लौटने के बाद प्रथम सूचना दर्ज करवायी गयी परिवार की प्रतिष्ठा और अभियोक्ति के भविष्य का प्रश्न था अतः विलंब से प्रथम सूचना दर्ज करवाने का स्पष्टीकरण उचित माना गया इस संबंध में न्यायदृष्टांत नंदा विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., आईएल.आर. 2009 एम.पी. 3221 अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत सोहन सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (2010) 1 एस.सी.सी. 68 के अनुसार बलात्कार के मामले की प्रथम सूचना दर्ज करवाने में हुए विलंब को भिन्न प्रकार से देखना चाहिए क्योंकि ऐसे में भी परिवार के सदस्य नहीं चाहते हैं कि अभियोक्ति पर कोई स्टीग्मा लगे ऐसे मामले में प्रथम सूचना में विलंब होना एक सामान्य बात है।

न्यायदृष्टांत अमरसिंह विरुद्ध बलविंदर सिंह, (2003) 2 एस.सी.सी. 518 के अनुसार ऐसा कोई नियम नहीं है कि प्रथम सूचना दर्ज करवाने में हुआ विलंब अभियोजन के मामले को स्वतः ही संदेहास्पद बना देता है बल्कि यह मामले की तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है जैसे आहत की संख्या, उन्हें कारित चोटों की प्रकृति, थाने और अस्पताल की दूरी, तत्काल मेडीकल सहायता की आवश्यकता आदि ऐसा कोई गणितीय सूत्र नहीं बनाया जा सकता जो विलम्बित प्रथम सूचना के लिए किसी भी प्रकार का अनुमान किसी के भी पक्ष में लेने के लिए बनाया जा सके।

इस संबंध में न्यायदृष्टांत तारासिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ पंजाब, 1991 सप्लीमेंट (1) एस.सी.सी. 536 भी अवलोकनीय है। जहूर विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., ए.आई.आर. 1991 एस.सी. 40 के अनुसार प्रथम सूचना दर्ज करवाने में हुए विलंब अभियोजन के मामले को खारिज करने के लिए पर्याप्त नहीं है जब तक की झूठी कहानी गढ़ने के कोई स्पष्ट संकेत नहीं दिखें। स्टेट ऑफ पंजाब विरुद्ध रामदेव सिंह, 2004 (1) ए. एन.जे. एस.सी. 321 के अनुसार यदि प्रथम सूचना विलंब से दर्ज करवायी गयी हो और विलंब का उचित स्पष्टीकरण दिया गया हो तो यह अभियोजन के लिए घातक नहीं होता है।

न्यायदृष्टांत रामदास विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, 200 (1) ए.एन.जे. एस.सी. 217 में विलंबित प्रथम सूचना आवश्यक रूप से घातक हो यह जरूरी नहीं है विलंब का स्पष्टीकरण दिया जाना चाहिए यह कहा गया।

न्यायदृष्टांत दिलावर सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ देहली, 2007 सी.आर.एल.जे. 4709 के अनुसार जहाँ प्रथम सूचना प्रतिवेदन दर्ज करने में विलंब हुआ हो वहाँ न्यायालय विलंब के स्पष्टीकरण के ओर देखता है कभी-कभी विलंब झूठी कहानी गढ़ने का अवसर दे देता है और जहाँ विलंब का उचित स्पष्टीकरण न दिया हो वहाँ विलंब घातक होता है।

इस संबंध में न्यायदृष्टांत रामजग विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 606 भी अवलोकनीय है जिसमें यह कहा गया है कि जहाँ विलंब इतना अधिक हो जो संदेह कारित करता हो वहाँ कई तथ्यों पर विचार करना चाहिए लेकिन यदि गवाहों का अभियुक्त को झूठा फंसाने का कोई हेतुक नहीं है तो लम्बे समय का विलंब भी क्षमा किया जा सकता है इस मामले में यह भी कहा गया कि तत्काल दर्ज की गयी रिपोर्ट उसके अधिकृत और सत्य होने की गारंटी नहीं होती है।

न्यायदृष्टांत शंकरिया नायक विरुद्ध स्टेट ऑफ कर्नाटका ए.आई.आर. 2009 एस.सी. 818 के मामले में कई व्यक्तियों को चोटें कारित हुई थी ऐसे में सामान्य मानवीय स्वभाव को देखते हुए 8 घंटे के विलंब को अस्वाभाविक नहीं माना गया।

इस प्रकार प्रथम सूचना प्रतिवेदन दर्ज करवाने में यदि विलंब हुआ हो तो न्यायालय को दिये गये विलंब के स्पष्टीकरण के बारे में विचार करना चाहिए। विलंबित प्रथम सूचना अभियोजन के मामले को या साक्ष्य को अविश्वसनीय मानने का एक मात्र आधार नहीं हो सकता है। यदि प्रथम सूचना दर्ज करवाने में विलंब हुआ हो तो न्यायालय को यह विचार करना चाहिए कि क्या विलंब का कारण कहानी गढ़कर अभियुक्त को झूठा फसाना तो नहीं है और यदि ऐसा नहीं पाया जाता है तो मात्र विलंबित प्रथम सूचना के आधार पर अभियोजन के मामले को अस्वीकार नहीं करना चाहिए। बलात्कार के मामले में विलंब एक स्वाभाविक लक्षण है क्योंकि ऐसी रिपोर्ट करने से पहले अभियोजित और उसके परिवार की प्रति ठा का प्रश्न भी होता है इसे भी ध्यान में रखना चाहिए। बिना किसी विलंब से दर्ज करवाई गई प्रथम सूचना सदैव सत्यता की ग्यारंटी नहीं होती है।

12. साक्ष्य में विरोधाभास और लोप

प्रायः दायिद्विक प्रकारण के निराकरण के समय साक्ष्य का मूल्यांकन करते समय यह प्रश्न उपस्थित होता है कि साक्षी के कथन में कुछ विरोधाभास और लोप है और वे साक्षी के कथनों की

विश्वसनीयता को प्रभावित करते हैं इन विरोधाभास और लोप पर कैसे विचार किया जाये यहीं हमें देखना है।

नवीनतम न्यायदृष्टांत गंगा भवानी विरुद्ध रायापति वेंकट रेड्डी, 2013 सी.आर. एल.जे. 4618 (एस. सी.) के अनुसार यदि साक्षी की साक्ष्य में छोटे विरोधाभास हो तो उन्हें अनदेखा करना चाहिए और साक्ष्य में सुधार किया गया ऐसा नहीं माना जा सकता यदि विरोधाभास ऐसे तात्विक हो जो मामले की जड़ तक जाते हो या अभियोजन के मामले को मूलभूत रूप से प्रभावित करते हैं तो उनके आधार पर साक्षी की विश्वसनीयता प्रभावित होती है केवल साक्ष्य में अतिशयोक्ति कर लेना साक्ष्य को अखंडित नहीं करता यह केवल साक्षी की विश्वसनीयता परखने का एक घटक हो सकता है। उक्त गंगा भवानी वाले मामले में न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ यू.पी. विरुद्ध नरेश, (2011) 4 एस.सी.सी. 320 को विचार में लिया गया जिसमें यह कहा गया है कि प्रत्येक दाण्डिक मामले में किसी भी गवाह के कथन में भिन्नता आना स्वाभाविक है क्योंकि निरीक्षण में त्रुटि याददाश्त की कमी घटना के कारण शॉक लगना इसके कारण हो सकते हैं इस मामले में यही कहा गया कि छोटे विरोधाभास को अधिक महत्व नहीं देना चाहिए ऐसे ही मत न्यायदृष्टांत तहसीलदार सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., ए.आई.आर. 1959 एस.सी. 1012, पुधु राजा विरुद्ध स्टेट, जे.टी. 2012 (9) एस.सी. 252 और लाल बहादुर विरुद्ध स्टेट, (2013) 4 एस.सी.सी. 557 में भी प्रकट किये गये हैं।

न्यायदृष्टांत श्यामल घोष विरुद्ध स्टेट ऑफ वेस्ट बंगाल, ए.आई.आर. 2012 एस.सी. 3539 के अनुसार सभी लोप विरोधाभास की श्रेणी में नहीं आते हैं केवल ऐसे लोप जो अभियोजन के मामले को प्रभावित करते हैं और तात्विक हों वे ही विरोधाभास की श्रेणी में आते हैं।

न्यायदृष्टांत ए. शंकर विरुद्ध स्टेट ऑफ कर्नाटका, (2011) 6 एस.सी.सी. 279 के अनुसार सभी दाण्डिक मामले में गवाहों के कथनों में छोटे विरोधाभास आते ही हैं इसके कारण निरीक्षण की त्रुटि, याददाश्त की त्रुटि, समय का गुजर जाना, घटना के समय का डर और शॉक आदि कारण होते हैं गवाह ने अपने कथनों में अतिशयोक्ति कर ली मात्र इस कारण से भी उसके कथन अविश्वसनीय नहीं हो जाते इस मामले में यह कहा गया कि छोटे विरोधाभास को अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। विरोधाभास के बारे में यह तथ्य ध्यान रखना चाहिए कि जब तक उन्हें अर्थात् विरोधाभास को प्रमाणित नहीं किया जाता अर्थात् उस व्यक्ति के समक्ष जिसने मूल कथन लेखबद्ध किया था उसके सामने नहीं रखा जाता और प्रमाणित नहीं किया जाता तब तक उनका कोई प्रभाव नहीं होता है इसी तरह जिस व्यक्ति ने वह कथन किये हैं उसकी समक्ष भी उन्हें रखना होता है ताकि उसे स्पष्टीकरण का अवसर मिल सकें जब तक गवाह को स्पष्टीकरण का अवसर नहीं मिलता तब तक ऐसे विरोधाभास को विचार में नहीं लिया जा सकता है इस संबंध में न्यायदृष्टांत सुन्दर सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ उत्तरांचल ए, (2010) 10 एस.सी.सी. 611 अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत सुन्दर पाल विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., (2010) 9 एस.सी.सी. 399 के अनुसार यदि कोई व्यक्ति कुछ संदेहास्पद परिस्थितियों में मिलता है यदि उसकी अप्राकृतिक मृत्यु होती है तो उसकी मृत्यु के कारण की जाँच के लिए इनक्वेस्ट रिपोर्ट तैयार की जाती है उसमें अभियुक्त गण का नाम नहीं होना या नाम बताने का लोप करना प्रत्यक्ष साक्षी गण को अविश्वसनीय नहीं बनाता है।

इस संबंध में न्यायदृष्टांत रवि विरूद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (2000) 4 एस.सी.सी. 84 और इकबाल बेग विरूद्ध स्टेट ऑफ ए.पी., (1986) 2 एस.सी.सी. 476 भी अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत भजन सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., ए.आई.आर. 2011 एस.सी. 2552 के अनुसार गवाहों के कथनों में छोटे विरोधाभास जो मूल रूप से मामले को प्रभावित नहीं करते हैं उन्हें अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। किसी भी व्यक्ति से घटना के सभी विस्तृत विवरण याद रखने की अपेक्षा नहीं की जा सकती इस संबंध में न्यायदृष्टांत विजय उर्फ चीनी विरूद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (2010) 8 एस.सी.सी. 191 और भ्रम स्वरूप विरूद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., ए.आई.आर. 2011 एस.सी. 280 भी अवलोकनीय है जिनका उल्लेख इस मामले में किया गया है।

मुनीअप्पम विरूद्ध स्टेट ऑफ तमिलनाडु, ए.आई.आर. 2010 एस.सी. 3718 के अनुसार विरोधाभास और लोप को अनावश्यक महत्व नहीं देना चाहिए जब तक की वह मामले की जड़ तक नहीं जाते हो और अभियोजन के मामले को मूलभूत रूप से प्रभावित नहीं करते हो जब तक उन्हें महत्व नहीं देना चाहिए। इस संबंध में न्यायदृष्टांत सोहराब विरूद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., ए.आई.आर. 1972 एस.सी. 2020, स्टेट ऑफ यू.पी. विरूद्ध एम.के. एन्थॉनी, ए.आई.आर. 1985 एस.सी. 48, स्टेट ऑफ राजस्थान विरूद्ध ओमप्रकाश, ए.आई.आर. 2007 एस.सी. 2257, प्रीथू उर्फ पृथ्वी चंद्र विरूद्ध स्टेट ऑफ एच.पी., (2009) 11 एस.सी.सी. 588, स्टेट ऑफ यू.पी. विरूद्ध संतोष कुमार, (2009) 9 एस.सी.सी. 626 और स्टेट विरूद्ध सर्वानन, ए.आई.आर. 2009 एस.सी. 152 भी अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत उत्पल दास विरूद्ध स्टेट ऑफ वेस्ट बंगाल, ए.आई.आर. 2010 एस.सी. 1894 के अनुसार प्रथम सूचना प्रतिवेदन और 164 दण्ड प्रक्रिया संहिता के कथन तात्विक साक्ष्य नहीं होती है इसका उपयोग केवल पूर्व कथन की तरह पुष्टि व खण्डन के लिए किया जा सकता है यदि इसका उपयोग खण्डन के लिए किया जाता है तब संबंधित साक्षी का ध्यान साक्ष्य के उस भाग की ओर दिलाना होगा उसके खण्डन करने का आशय है।

सुच्चा सिंह विरूद्ध स्टेट ऑफ पंजाब, (2003) 7 एस.सी.सी. 643 के अनुसार गवाहों के कथन में विरोधाभास होने के आधार पर उनके कथनों को अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता जब तक की विरोधाभास तात्विक न हो और मामले की जड़ तक न जाते हो। साक्षीगण के कथनों में आये विरोधाभास पर विचार करते समय न्यायदृष्टांत भरवाड़ा भोगिन भाई, हिरजी भाई, विरूद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, ए.आई.आर. 1983 एस.सी. 753 में दिये गये कुछ सिद्धांतों का ध्यान रखना चाहिए और उसके बाद ही विरोधाभासों पर कोई राय बनाना चाहिए ये सिद्धांत इस प्रकार है :-

1. किसी भी गवाह से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह छाया चित्रण या फोटोग्राफिकयाददाश्त रख सके और घटना के सारे विस्तृत विवरण याद रख सके उसके मस्तिष्क पर वीडियो टेप की तरह घटना का पुनः चित्रण हो जाये यह संभव नहीं है।
2. सामान्यतः ऐसा होता है कि गवाह घटना स्थल पर आ पहुँचता है गवाह को घटना होने की कोई प्रत्याशा नहीं होती है इस कारण वह आश्चर्य चकित रह जाता है और उस समय उसकी मानसिक क्षमता ऐसी नहीं होती कि वह घटना के विस्तृत विवरण को ग्रहण कर सके।

3. निरीक्षण करने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न होती है एक व्यक्ति किसी बात पर ध्यान देता है दूसरा नहीं देता है कोई क्षण किसी व्यक्ति के दिमाग में कोई इमेज बनाता है जबकि दूसरा व्यक्ति उस तथ्य पर ध्यान नहीं देता है।
4. सामान्यतः व्यक्ति सही-सही रूप से उसके सामने हुई बातचीत में उपयोग हुए शब्दों को पुनः नहीं दोहरा सकता जो उसने सुने थे वह बातचीत का मुख्य अर्थ बतला सकता है यह अवास्तविक होगा कि किसी गवाह से टेप रिकार्डर के समान दोहराने की अपेक्षा की जाये।
5. घटना का ठीक समय बतलाने के संबंध में, घटना की अवधि बतलाने में व्यक्ति उनके अनुमान या गैसवर्क काम में लेते हैं। वास्तविक समय बतलाने की अपेक्षा किसी व्यक्ति से नहीं की जा सकती यह तथ्य भी प्रत्येक व्यक्ति के समय बोध क्षमता पर निर्भर करता है।
6. सामान्यतः घटना कम समय में और तेज गति से हो जाती है ऐसे में सिलसिलेवार घटना का विवरण देने की अपेक्षा गवाह से नहीं की जा सकती। ऐसे में गवाह का भ्रम में पड़ना स्वभाविक होता है।
7. एक गवाह चाहे सत्यवादी हो वह न्यायालय के वातावरण से और अधिवक्ता द्वारा किये गये प्रतिपरीक्षण की चुभन से नर्वस हो जाता है और थोड़ा भ्रमित हो जाता है और वह असत्य न मान लिया जाये इस डर से भी भयभीत हो जाता है और कुछ तथ्य अपनी ओर से मिला देता है वह घटना के क्रम में भी भुलावे में पड़ जाता है और थोड़े काल्पनिक तथ्य जोड़ देता है। उक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए साक्षीगण के कथनों में आये विरोधाभास पर विचार करना चाहिए। इस तरह वैधानिक स्थिति यह स्पष्ट होती है कि किसी भी गवाह के कथनों में विरोधाभास और लोप आना अत्यन्त स्वाभाविक है क्योंकि घटना और न्यायालय में कथन देने के बीच समय का अन्तर, याददाश्त, निरीक्षण क्षमता में अन्तर, घटना को दोहराने की क्षमता आदि कारक ऐसे हैं जिनके कारण विरोधाभास और लोप आते हैं। न्यायालय को छोटे, तुच्छ, अल्पमहत्व के व घटना से असंगत बातों के बारे में आये विरोधाभासों पर अधिक बल नहीं देना चाहिए केवल वे विरोधाभास जो मूल घटना को प्रभावित करते हों और मामले की जड़ तक जाते हों उन्हीं से किसी साक्षी की विश्वसनीयता प्रभावित होती है।

13. मृत्यु कालीन कथन

धारा 32 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 के अनुसार वे दशाएँ जिनमें उस व्यक्ति द्वारा सुसंगत तथ्य का किया गया कथन सुसंगत है, जो मर गया है या मिल नहीं सकता, इत्यादि – सुसंगत तथ्यों के लिखित या मौखिक कथन, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा किये गये थे, जो मर गया है या मिल नहीं सकता है या जो साक्ष्य देने के लिए असमर्थ हो गया है या जिसकी हाजिरी इतने विलम्ब या व्यय के बिना उपाप्त नहीं की जा सकती, जितना मामले की परिस्थितियों में न्यायालय को अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है निम्नलिखित दशाओं में स्वयंमेव सुसंगत है :-

जबकि वह मृत्यु के कारण से संबंधित है – जबकि वह कथन किसी व्यक्ति द्वारा अपनी मृत्यु के कारण के बारे में या उस संव्यवहार की किसी परिस्थिति के बारे में किया गया है, जिसके फल स्वरूप उसकी मृत्यु हुई, तब उन मामलों में, जिनमें उस व्यक्ति की मृत्यु का कारण प्रश्नगत हो।

ऐसे कथन सुसंगत हैं चाहे उस व्यक्ति को, जिसने उन्हें किया है, उस समय जब वे किये गए थे, मृत्यु की प्रत्याशंका थी या नहीं और चाहे उस कार्यवाही की, जिसमें उस व्यक्ति की मृत्यु का कारण प्रश्नगत होता है, प्रकृति कैसी ही क्यों न हो।

न्यायदृष्टांत कांतिलाल एम. पन्डोर विरुद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, ए.आई.आर. 2013 एस.सी. 3055 के अनुसार धारा 32 (1) भारतीय साक्ष्य अधिनियम के तहत यदि किसी व्यक्ति के लिखित या मौखिक कथन जो उसकी मृत्यु के कारण से संबंधित हो उन्हें मृत्यु कालीन कथन के रूप में ग्राह्य किया जा सकता है लेकिन ऐसे कथन यदि मृत्यु के कारण से संबंधित न हो तो उन्हें ग्राह्य नहीं किया जा सकता इस मामले में मृत्यु कालीन कथन में दहेज प्रताड़ना के संबंध में तथ्य लिखे गये थे उन्हें 498 ए भारतीय दण्ड संहिता के अपराध के लिए ग्राह्य नहीं माना गया। इस संबंध में न्यायदृष्टांत इंद्रपाल विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2001 ए.आई.आर. एस.सी.डब्ल्यू. 5092 भी अवलोकनीय है जिसमें यही विधि प्रतिपादित की है।

भैरोसिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., ए.आई.आर. 2009 एस.सी. 2603 के अनुसार मृत्यु कालीन कथन के यह तथ्य की मृतक को दहेज के लिए प्रताड़ित किया गया था धारा 32 (1) साक्ष्य अधिनियम के तहत ग्राह्य नहीं है क्योंकि यह मृत्यु के कारण से संबंधित नहीं है इस संबंध में न्याय दृष्टांत इंद्रपाल विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (2001) 10 एस.सी.सी. 736 भी अवलोकनीय है जिसमें यही विधि प्रतिपादित की गयी है।

न्यायदृष्टांत विनय डी. नागर विरुद्ध स्टेट ऑफ राजस्थान, (2008) 5 एस.सी.सी. 597 के अनुसार धारा 162 दण्ड प्रक्रिया संहिता के कथन जो अपहरण के मामले में अपहरण से संबंधित थे उन्हें धारा 32 (1) साक्ष्य अधिनियम के तहत मृत्यु कालीन कथन के रूप में ग्राह्य नहीं माना गया क्योंकि वे मृत्यु के कारण से संबंधित नहीं थे।

मृत्यु कालीन कथन किसी व्यक्ति द्वारा दिया गया वह अंतिम कथन होता है जो वह उस समय देता है जब उसके मृत्यु की गंभीर आशंका उत्पन्न हो जाती है और उसके बचने की कोई उम्मीद नहीं होती है ऐसे समय पर यह आशा की जाती है कि वह व्यक्ति सत्य और सिर्फ सत्य कथन कहेगा।

एक बार यदि यह स्थापित हो जाती है कि मृत्यु कालीन कथन स्वेच्छया से किये गये हैं और वे विश्वास योग्य हैं और मृतक के द्वारा किसी को झूठा फंसाने का प्रयास नहीं किया गया है तो न्यायालय ऐसे मृत्यु कालीन कथन पर सुरक्षित रूप से विश्वास करके दोषसिद्धि स्थिर कर सकता है इस संबंध में न्यायदृष्टांत एम. सर्वना उर्फ के.डी. सर्वना विरुद्ध स्टेट ऑफ कर्नाटक, 2013 (1) क्राइम्स 371 (एस.सी.) अवलोकनीय है।

जहाँ मृत्यु पूर्व कथन सत्य और विश्वसनीय हो और नियमों के अनुसार लेखबद्ध किया गया हो तो उनके आधार पर दोषसिद्धि स्थिर की जा सकती है इस संबंध में न्यायदृष्टांत कृष्णन् विरुद्ध स्टेट ऑफ

हरियाणा, (2013) 3 एस.सी.सी. 280, रमीला बेन हसमुख भाई विरूद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, (2002) 7 एस. सी.सी. 56 और भज्जू विरूद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (2012) 4 एस.सी.सी. 327 अवलोकनीय हैं।

मृत्यु पूर्व कथन रिश्तेदारों की उपस्थिति में लेखबद्ध किया गया यह तथ्य अभियोजन के मामले को प्रभावित नहीं करता है। इस संबंध में न्यायदृष्टांत राकेश विरूद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, (2013) 4 एस. सी.सी. 69 अवलोकनीय है। इस मामले में यह भी कहा गया है कि जहाँ डॉक्टर ने पेशेंट की हिस्ट्री लिखते समय यह दर्ज किया कि खाना बनाते समय दुर्घटनावश आग लग गयी। मृत्यु कालीन कथन में मृतक ने सिलसिलेवार कथन दिये जैसे देखते हुए डॉक्टर की उक्त टिप्पणी प्रभावहीन मानी गयी।

न्यायदृष्टांत मुरुगेशन विरूद्ध स्टेट, ए.आई.आर. 2013 एस.सी. 274 के अनुसार जहाँ मृतक कथन पूर्ण होने से पहले कोमा में चला गया वहाँ उसके कथन देने में समर्थ होने पर संदेह उत्पन्न होता है डॉक्टर द्वारा उसके कथन देने के लिए फिट होने के बारे में दिया गया प्रमाणपत्र उसकी शारीरिक दशा के बारे में अंतिम कथन नहीं कहा जा सकता इस प्रमाण पत्र को सभी परिस्थितियों के साथ देखना होता है कथन विश्वसनीय नहीं पाया गया।

न्यायदृष्टांत संदीप विरूद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., (2012) 6 एस.सी.सी. 107 के अनुसार मृतक पर एसिड छिटका गया था और उसके सिर पर चोटें थी लेकिन मात्र इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि मृतक के मुंह पर ऐसी गंभीर क्षति थी कि वह कथन देने की स्थिति में नहीं थी डॉक्टर ने ऐसा कोई कथन नहीं किया था कि मृतक चोटों के कारण कथन देने की स्थिति में नहीं थी। अतः इस संबंध में किये गये तर्क इस मामले में अमान्य किये गये।

न्यायदृष्टांत सुधाकर विरूद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., ए.आई.आर. 2012 एस.सी. 3265 के अनुसार जहाँ मृतक ने एक से अधिक मृत्यु कालीन कथन दिये हों जो या तो परस्पर विरोधी हो या उसमें अन्तर हो तब सामान्य प्रज्ञा का नियम यह है कि यह परीक्षण करना चाहिए कि कौन से मृत्यु कालीन कथन अभियोजन की अन्य साक्ष्य से पुष्टिकारक है साथ ही अन्य परिस्थितियां जैसे सुसंगत समय पर मृतक की अवस्था, मेडीकल साक्ष्य, मृतक द्वारा कथन स्वेच्छया से करने, उनके जेन्थून होने, मृतक की शारीरिक और मानसिक फिटनेस, मृतक की सिखाये जाने की संभावना आदि तथ्यों पर विचार करना चाहिए।

इसी मामले में यह भी कहा गया है कि मृत्यु कालीन कथन के साथ उनके सत्य होने की संभावना जुड़ी रहती है और यदि एक बार प्रमाणित हो जाये कि ऐसे कथन स्वेच्छया से किये गये हैं और उसमें किसी व्यक्ति को झूठा फसाये जाने की संभावना नहीं है तब उस पर सुरक्षित रूप से विश्वास किया जा सकता है।

न्यायदृष्टांत दीपक वर्मा विरूद्ध स्टेट ऑफ एच.पी., (2011) 10 एस.सी.सी. 129 के अनुसार जहाँ मृत्यु कालीन कथन में उनको लेखबद्ध करने के समय के बारे में भिन्नता, उसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग जो सामान्य उपयोग के न हो, ओवर राइटिंग यह ऐसे तथ्य हैं जो मामूली प्रकृति के हैं और अभियोजन द्वारा प्रस्तुत मौखिक साक्ष्य को समाप्त करने वाले नहीं हैं मामले में मृत्यु कालीन कथन को विश्वसनीय पाया गया।

न्यायदृष्टांत सुरिन्दर कुमार विरुद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, (2011) 10 एस.सी.सी. 173 के अनुसार यह न्यायालय का कर्तव्य है कि वह मृत्यु पूर्व कथन की सावधानी से छानबीन करके और यह आश्वस्त करे कि मृत्यु कालीन कथन सिखाये जाने, कल्पना या प्रेरणा का परिणाम नहीं है। जहाँ मृत्यु कालीन कथन संदेहास्पद हो वहाँ उनकी पुष्टि के बिना उन पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

न्यायदृष्टांत श्याम शंकर कंकारिया विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, (2006) 13 एस.सी.सी. 165 के अनुसार यदि मृत्यु कालीन कथन को विचार में नहीं लिया जायेगा तो इससे न्याय की हानि होगी क्योंकि कई गंभीर अपराधों में मृतक एकमात्र चक्षु साक्षी होता है और यदि उसकी मृत्यु पूर्व कथन निकाल दिये जाये तो मामला साक्ष्य हीन हो जाता है। मृतक चूंकि मृत्यु शैय्या पर होता है तब यह माना जाता है कि वह सत्य कथन करता है और इसी कारण शपथ दिलाने और प्रतिपरीक्षण से मृत्यु कालीन कथन को मुक्त माना जाता है लेकिन यह भी ध्यान रखना होगा कि अभियुक्त को ऐसे कथनों पर प्रतिपरीक्षण का कोई अधिकार नहीं मिलता है जो कि सत्य को सामने लेने के लिए आवश्यक होता है इसी कारण न्यायालय यह बल देता है कि मृत्यु कालीन कथन इस प्रकृति का होना चाहिए कि उसे सही होने और विश्वसनीय होने पर कोई संदेह न हो कथन सिखाये जाने या कल्पना का परिणाम न हो मृतक का मस्तिष्क सही स्थिति में हो यदि एक बार न्यायालय को यह संतोष हो जाये कि मृत्यु कालीन कथन सत्य, स्वेच्छया से किया गया, संदेहरहित है तो उस पर बिना किसी पुष्टि के अभाव में दोषसिद्धि स्थिर की जा सकती है।

ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि जब तक मृत्यु कालीन कथन की पुष्टि न हो उसे दोषसिद्धि का एकमात्र आधार नहीं बनाया जा सकता।

मृत्यु कालीन कथन के बारे में न्यायदृष्टांत पानी बेन विरुद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, (1992) 2 एस.सी.सी. 474 एक बहुत महत्वपूर्ण न्याय दृष्टांत है जिसमें कई न्याय दृष्टांतों में मृत्यु कालीन कथन के बारे में प्रतिपादित सिद्धांतों को बतलाया गया है जो इस प्रकार हैं:—

1. यह न तो विधि का न ही प्रज्ञा का नियम है कि मृत्यु पूर्व कथन पुष्टि के अभाव में विचार में नहीं लिये जा सकते। (देखिए मुन्नू राजा विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (1976) 3 एस.सी.सी. 104)
2. यदि न्यायालय इस बात से संतुष्ट है कि मृत्यु पूर्व कथन सत्य और स्वेच्छया पूर्वक किये गये हैं तो उन्हें दोषसिद्धि का आधार, पुष्टि के अभाव में भी, बना सकती है (देखिए स्टेट ऑफ यू.पी. रामसागर यादव, (1985) 1 एस.सी.सी. 552 और रामावती देवी विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, (1983) 1 एस.सी.सी. 211)
3. न्यायालय को मृत्यु कालीन कथन की छानबीन सावधानी पूर्वक करना चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि मृत्यु कालीन कथन सिखाये जाने, कल्पना, प्रेरणा का परिणाम नहीं है। मृतक के पास हमलावरों को पहचानने और उनका निरीक्षण करने का अवसर था और वह कथन देते समय फिट अवस्था में था। (देखिए के. रामचन्द्र रेड्डी विरुद्ध पब्लिक प्रोसीक्यूटर, (1976) 3 एस.सी.सी. 618)

4. जहाँ मृत्यु कालीन कथन संदेहास्पद हो वहां उन पर पुष्टि के बिना विश्वास नहीं किया जाना चाहिए। (देखिए राशिद बेग विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (1974) 4 एस.सी.सी. 264)
5. जहाँ मृतक बेहोशी में था और मृत्यु कालीन कथन नहीं कर सकता था तब ऐसी साक्ष्य को खारिज करना चाहिए (देखिए काला सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 1981 सप्लीमेंट एस.सी. सी. 25)
6. मृत्युकालीन कथन जो किसी दुर्बलता से ग्रसित हो उन्हें दोषसिद्धि का आधार नहीं बनाया जा सकता (देखिए राममूरत विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., (1981) 2 एस.सी.सी. 654)
7. मृत्यु कालीन कथन में घटना का विस्तृत विवरण नहीं है मात्र इस कारण से उसे खारिज नहीं किया जा सकता। इस संबंध में (देखिए स्टेट ऑफ महाराष्ट्र कृष्णामूर्ति लक्ष्मीपति नायडू, 1980 सप्लीमेंट एस.सी.सी. 455)
8. कथन संक्षिप्त में है इस कारण उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता इसके विपरीत कथन का संक्षिप्त होना उसके सत्य होने की गारंटी होती है (देखिए सूरजदेव ओझा विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, 1980 सप्लीमेंट एस.सी.सी. 769)
9. सामान्यतः न्यायालय यह संतोष करने के लिए कि मृतक कथन देते समय सही मानसिक दशा में था, मेडीकल राय को देखते हैं लेकिन जहाँ प्रत्यक्ष साक्षीगण का कहना है कि मृतक सही अवस्था में और होश में था मृत्यु पूर्व कथन करने की स्थिति में था वहाँ डॉक्टर की राय अधिभावी नहीं हो सकती। (देखिए नन्हूराम विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 1988 सप्लीमेंट एस.सी. सी. 152)
10. जहाँ अभियोजन का कथानन मृत्यु कालीन कथन से भिन्न हो वहाँ ऐसे कथनों पर विश्वास नहीं किया जा सकता (देखिए स्टेट ऑफ यू.पी. विरुद्ध मदन मोहन, (1989) 3 एस.सी.सी. 390)
11. जहाँ एक से अधिक कथन हो जो मृत्यु कालीन कथन की प्रकृति के हो वहां जो कथन प्रथम बार किया गया उसको प्राथमिकता देना चाहिए। (देखिए मोहनलाल गंगा राम गेहानी विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, (1982) 1 एस.सी.सी. 700)

भज्जू उर्फ करण सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (2012) 4 एस.सी.सी. 327 के अनुसार यदि मृत्यु पूर्व कथन विधि अनुसार लेखबद्ध किये गये हैं विश्वसनीय हैं और घटना को कोजेन्ट और संभाव्य विवरण देते हैं तो न्यायालय ऐसी एक मात्र साक्ष्य के आधार पर ही दोषसिद्धि स्थिर कर सकती है।

न्यायदृष्टांत पूरनचंद्र विरुद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, (2010) 6 एस.सी.सी. 566 में उक्त स्थितियों को पुनः प्रतिपादित किया गया है।

न्यायदृष्टांत पानीर सेलवम विरुद्ध स्टेट ऑफ तमिलनाडु, (2008) 17 एस.सी.सी. 190 में भी यह प्रतिपादित किया गया है कि ऐसा कोई सापेक्ष नियम नहीं बनाया जा सकता कि मृत्यु कालीन कथन को तब तक दोषसिद्धि का एकमात्र आधार नहीं बनाया जा सकता जब तक की उसकी पुष्टि न हो। पुष्टि मांगने का नियम केवल एक प्रज्ञा का नियम है।

न्यायदृष्टांत बाबले उर्फ गुरदीप सिंह स्टेट ऑफ छत्तीसगढ़, ए.आई.आर. 2012 एस.सी. 2621 के अनुसार मौखिक मृत्यु कालीन कथन इस नियम का अपवाद है कि अनुश्रुत साक्ष्य ग्राह्य नहीं होती है।

न्यायदृष्टांत ओमपाल सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., ए.आई.आर. 2011 एस.सी.1562 के अनुसार यदि मृत्यु कालीन कथन प्रश्न और उत्तर के रूप में न हो, डॉक्टर का फिटनेस प्रमाणपत्र न हो मात्र इस कारणों से वह अविश्वसनीय नहीं हो जाता है डॉक्टर का प्रमाणपत्र केवल सावधानी के नियम के रूप में होता है तहसीलदार/मजिस्ट्रेट जिसने कथन लिया उन्होंने मृतक के कथन देने की स्थिति में होने का सम्यक् रूप से निरीक्षण किया था। इस मामले में न्यायदृष्टांत लक्ष्मण विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, ए.आई.आर. 2002 एस.सी. 1973 निर्णय चरण 3 का उल्लेख किया गया और उसे विचार में लिया गया।

न्यायदृष्टांत अबरार विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., (2011) 2 एस.सी.सी. 750 के अनुसार तीन मृत्यु कालीन कथन थे एक प्रथम सूचना प्रतिवेदन के रूप में, दूसरा 161 दण्ड प्रक्रिया संहिता के कथन के रूप में, तीसरा तहसीलदार द्वारा अभिलिखित किया गया था तीनों में सभी अभियुक्त गण का उल्लेख था अभियुक्त मुख्यतार और मतिन तथा उसमान के बारे में कोई प्रत्यक्ष और सकारात्मक साक्ष्य उनकी अपराध की भूमिका के बारे में तीनों मृत्यु कालीन कथन में नहीं थी केवल अबरार के बारे में अपराध की साक्ष्य थी कि उसके मारने से मृतक मरा। इस मामले में यह कहा गया कि मृत्यु कालीन कथन को आंशिक रूप से स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं होती है और ऐसा किया जा सकता है।

न्यायदृष्टांत मुकेश भाई, गोपाल भाई बारोट विरुद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, (2010) 12 एस.सी.सी. 224 के अनुसार 161 दण्ड प्रक्रिया संहिता के कथन धारा 32 (1) भारतीय साक्ष्य अधिनियम की शर्तों को पूरी करते हैं तो कथन कर्ता की मृत्यु के बाद मृत्यु कालीन कथन के रूप में मान्य किये जा सकते हैं।

न्यायदृष्टांत थाउ राम विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (2010) 10 एस.सी.सी. 353 के अनुसार यह सुस्थापित कथन है कि मृत्यु कालीन कथन पर बहुत सावधानी पूर्वक विचार करना चाहिए क्योंकि इन पर अभियुक्त प्रतिपरीक्षण का अवसर नहीं होता है इस मामले में मृत्यु कालीन कथन में कोई संदिग्धता नहीं थी न अनिमित्यता थी कथन स्पष्ट और साधारण भाषा में थे कि मृतक को शारीरिक और मानसिक रूप से प्रताड़ित किया गया इसलिए उसने कैरोसीन डालकर आग लगा ली कथन विश्वसनीय पाया गया।

न्यायदृष्टांत सुन्दर सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ उत्तरांचल, (2010) 10 एस.सी.सी. 611 के अनुसार यदि मृत्यु कालीन कथन करने वाला व्यक्ति जीवित बच जाये तब ऐसे मृत्यु कालीन कथन तात्विक साक्ष्य नहीं होती है लेकिन न्याय दृष्टांत रामप्रसाद विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, (1995)

5 एस.सी.सी. 30 के अनुसार यदि ऐसे मृत्यु कालीन कथन मजिस्ट्रेट द्वारा लेखबद्ध किये गये हों तो उन्हें मौखिक साक्ष्य की पुष्टि के लिए धारा 157 भारतीय साक्ष्य अधिनियम के तहत प्रयोग किये जा सकते हैं और यदि पुलिस अधिकारी द्वारा लेखबद्ध किये गये हो तो उन्हें धारा 162 दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन रहते हुए प्रयोग किये जा सकते हैं।

न्यायदृष्टांत मोहम्मद हॉफीज विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., आई.एल.आर. 2010 एम.पी. 261 के अनुसार घटना के ठीक पश्चात् और आत्महत्या के ठीक पूर्व अभियोक्ति ने अभियुक्त के कृत्य के बारे में प्रत्यक्ष साक्षीगण को जो कथन किये वह पूरे कथन जो मृत्यु की ठीक पूर्व किये गये थे वे धारा 32 (1) साक्ष्य अधिनियम के तहत ग्राह्य कर सकते हैं।

न्यायदृष्टांत सुकान्ती मोहराना विरुद्ध स्टेट ऑफ उड़ीसा, (2009) 9 एस.सी.सी.163 के अनुसार मृत्यु कालीन कथन पर मृतक के हस्ताक्षर या अंगूठा नहीं था मृतक 90 से 95 प्रतिशत तक जली हुई थी। उसके अंगूठे पर पी.एम. रिपोर्ट के अनुसार पट्टी बंधी थी और अंगूठा जला हुआ था इन परिस्थितियों में यह संभव नहीं था कि मृतक के अंगूठा या हस्ताक्षर कथन पर लिया जाये। यदि कथन अन्यथा विश्वसनीय, स्वेच्छया से किया गया और सही प्रतीत हो तो मात्र हस्ताक्षर या अंगूठा न होने के आधार पर खारिज नहीं किये जा सकते।

न्यायदृष्टांत अतबीर विरुद्ध गर्वमेंट ऑफ एन. सिटी दिल्ली, (2012) 9 एस.सी. सी. 1 के अनुसार मृत्यु कालीन कथन लेखबद्ध करते समय कथन कर्ता की मानसिक दशा, मस्तिष्क की जागृतता, याददाश्त, आदि ध्यान में रखना चाहिए इस मामले में मृत्यु कालीन कथन पर पूर्व के कई न्यायदृष्टांतों को विचार में लाया गया है।

न्यायदृष्टांत गोविंद अप्पा विरुद्ध स्टेट ऑफ कर्नाटका, (2010) 6 एस.सी.सी. 533 के मामले में मृतक 100 प्रतिशत जली हुई अवस्था में थी। लेकिन मृत्यु कालीन कथन लेते समय सही मानसिक अवस्था में थी कार्यपालक मजिस्ट्रेट ने उसका कथन डॉक्टर की उपस्थिति में लिया और कथन पर उसके बांये हाथ का अंगूठा लगवाया डॉक्टर ने भी हस्ताक्षर किये। डॉक्टर का प्रमाणपत्र मृतक की शारीरिक दशा के बारे में नहीं लिया गया था मात्र इस कारण से कथन को खारिज नहीं किया जा सकता। वह व्यक्ति जिसने कथन लेखबद्ध किया उसे इस बात से संतुष्ट होना चाहिए कि मृतक कथन देने की सही मानसिक अवस्था में था।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ यूपी. विरुद्ध रामसंजीवन, (2010) 1 एस.सी.सी. 529 के अनुसार हत्या के मामले में एक आहत ने उसकी मृत्यु कालीन कथन में कुछ अभियुक्तगण के नाम का लोप किया और ऐसा भय के कारण किया मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में यह स्वाभाविक था और कथनों को मात्र इस कारण से अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

न्यायदृष्टांत मुनवर विरुद्ध स्टेट ऑफ यूपी., (2010) 5 एस.सी.सी. 451 के अनुसार पुलिस अधिकारी ने साक्षी के 161 दण्ड प्रक्रिया संहिता के कथन लेखबद्ध किये यह कथन पुलिस रेग्युलेशन में मृत्यु कालीन कथन की विधि के अनुसार नहीं लिखे गये थे अतः उन पर भरोसा नहीं किया गया लेकिन दूसरा मृत्यु कालीन कथन जो कार्यपालक मजिस्ट्रेट ने लेखबद्ध किया था और वह 161

दण्ड प्रक्रिया संहिता के कथनों के समान थे उन पर विश्वास किया गया। इस संबंध में न्यायदृष्टांत बालकराम विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., (1975) 3 एस.सी.सी. 2197 अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ यू.पी. विरुद्ध संतोष कुमार, (2009) 9 एस.सी.सी. 626 के अनुसार मृतक के तीन मृत्यु कालीन कथन थे एक पिता को, दूसरे अन्वेषण अधिकारी को, तीसरा तहसीलदार/मजिस्ट्रेट को दिया गया था। तीनों में यह कहा गया था कि अभियुक्त कैरोसीन लाया मृतक पर उड़ला और आग लगा दी। जलने की चोटों के कारण उसकी मृत्यु हुई मृतक कथन देते समय गंभीर पीड़ा में थी ऐसे में छोटे विरोधाभास स्वाभाविक है। मृत्यु कालीन कथनों को उचित परिदृश्यों में देखना चाहिए डॉक्टर का प्रमाणपत्र की मृतक सही मानसिक अवस्था में था लगा हुआ था दोषसिद्धि स्थिर की गयी।

न्यायदृष्टांत अमर सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ राजस्थान, (2010) 9 एस.सी.सी. 64 के अनुसार भारतीय विधि में यदि कोई व्यक्ति जिसे मृत्यु की प्रत्याशा न भी हो और वह कोई ऐसे कथन करता है जो उसकी मृत्यु के कारण के बारे में हो या उन परिस्थितियों के बारे में हो जिसमें उसकी मृत्यु हुई और जबकि मामले में यह प्रश्न निश्चित करना हो कि मृत्यु का कारण क्या था तब ऐसे कथन मृत्यु कालीन कथन के रूप में ग्राह्य होते हैं। इस मामले में मृतक ने अपनी मृत्यु के कुछ माह पूर्व साक्षीगण को यह बतलाया था कि अभियुक्त स्कूटर या 25 हजार रुपये की मांग करता है और ताने मारता है इन तथ्यों को मृत्यु कालीन कथन के रूप में ग्राह्य किया गया।

न्यायदृष्टांत पूरनचंद्र विरुद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, (2010) 6 एस.सी.सी. 566 में मृत्यु कालीन कथन को विचार में लेते समय ध्यान में रखे जाने योग्य कुछ सिद्धांत बतलाये गये हैं।

न्यायदृष्टांत विनोद कुमार विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2009 (3) एम.पी.एच.टी. 302 (डी.बी.) के अनुसार मृत्यु कालीन कथन डॉक्टर ने अभिलिखित किये जो प्रश्न और उत्तर के रूप में थे उसमें यह कहा गया कि यद्यपि मृतक पीड़ादायक स्थिति में है लेकिन वह होश में और सुसंगत प्रश्नों का उत्तर देने की स्थिति में है ऐसी परिस्थितियों में मृतक के सही शारीरिक और मानसिक दशा में होने के बारे में प्रमाणपत्र न लगाने का कोई प्रभाव नहीं है।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ तमिलनाडु विरुद्ध कुरुप्पा स्वामी, ए.आई.आर. 2009 एस.सी. 948 के मामले में मृत्यु कालीन कथन मजिस्ट्रेट द्वारा लेखबद्ध किया गया उसे इस आधार पर खारिज किया गया कि मजिस्ट्रेट ने डॉक्टर के प्रमाणपत्र के आधार पर मरीज की शारीरिक दशा के बारे में संतोष कर लिया सर्वोच्च न्यायालय ने इसको उचित नहीं माना और यह प्रतिपादित किया कि मजिस्ट्रेट के लिए आवश्यक नहीं है कि मृतक की शारीरिक दशा के बारे में स्वतंत्र जांच करें।

न्यायदृष्टांत भारत सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., आई.एल.आर. 2009 एम.पी. 1427 के अनुसार जहां एक से अधिक मृत्यु कालीन कथन हो और उसमें कुछ असंगतता हो तब न्यायालय उसके बारे में विचार करेगी कि ऐसी असंगतता तात्विक है या नहीं।

न्यायदृष्टांत नासीर विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., आई.एल.आर. 2008 एम.पी. 907 के अनुसार मृतक के फिटनेस के बारे में डॉक्टर का प्रमाणपत्र वहां आवश्यक नहीं है जहां अभिलेख पर ऐसी साक्ष्य हो जिससे मृतक के कथन देने की स्थिति में होने के बारे में संतोष किया जा सके।

न्यायदृष्टांत विजयदास विरुद्ध स्टेट ऑफ वेस्ट बंगाल, (2008) 4 एस.सी.सी. 511 में एक से अधिक मृत्यु कालीन कथन थे लेकिन वे स्थिर थे और एक जैसे थे उन्हें विश्वास योग्य पाया गया इस मामले में न्यायदृष्टांत नारायण सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, ए.आई.आर. 2004 एस.सी. 1616, बाबूलाल विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (2003) 12 एस.सी.सी. 490, रवि विरुद्ध स्टेट ऑफ टी.एन., (2004) 10 एस.सी.सी. 776 और मृत्यु कुट्टी विरुद्ध स्टेट, (2005) 9 एस.सी.सी. 113 को विचार में लिया गया।

न्यायदृष्टांत दशरथ उर्फ चम्पा विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., आई.एल.आर. 2007 एम.पी. 1488 के अनुसार सिद्धांत यह है कि एक व्यक्ति उसको बनाने वाले के सामने झूठा मुंह लेकर नहीं जाना चाहता ऐसी कोई साक्ष्य नहीं थी कि मृत्यु कालीन कथन सिखाये जाने या कल्पना का परिणाम था मृत्यु कालीन कथन स्वेच्छया से किया गया था उसे स्वीकार योग्य पाया गया।

न्यायदृष्टांत राजेश विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2008 (4) एम.पी.एच.टी. 198 के अनुसार यदि कथन करने वाला व्यक्ति जिन्दा बच जाता है तो उसके कथन तात्विक साक्ष्य के रूप में उपयोगी नहीं होते हैं लेकिन पूर्व कथन के रूप में उपयोगी होते हैं।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ एम.पी. विरुद्ध कौशल प्रसाद जायसवाल, 2008 (4) एम.पी.एच.टी. 170 डी.बी. के अनुसार मृतक के तीन मृत्यु कालीन कथन थे एक देहाती नालशी, कार्यपालक मजिस्ट्रेट द्वारा लिखे गये बयान, धारा 161 दण्ड प्रक्रिया संहिता के पुलिस कथन। केवल एक कमी थी कि देहाती नालशी और कार्यपालक मजिस्ट्रेट द्वारा लिये गये कथन में पांच मिनट का ही अन्तर था जबकि दोनों दस्तावेजों के लिखने के स्थान में एक से दूसरे पर पहुंचने में 15 से 20 मिनट लग सकते थे इस विरोधाभास को तात्विक नहीं माना गया।

न्यायदृष्टांत कमलेश जैन विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., आई.एल.आर. 2008 एम.पी. 885 के अनुसार मृतक के अस्पताल में भर्ती होते हुए उसकी गंभीर दशा को देखते हुए डॉक्टर ने उसके मृत्यु कालीन कथन लेखबद्ध किये वह पांच दिन तक जीवित रही पुलिस को कोई सूचना नहीं दी गयी पर्याप्त समय होने के बाद भी मजिस्ट्रेट से मृत्यु कालीन कथन लेखबद्ध नहीं करवाया गया।

मृतक के सही मानसिक दशा में होने के प्रमाणपत्र नहीं लगाया गया ऐसे कथनों को इस आधार पर विश्वसनीय नहीं पाया कि डॉक्टर ने मृतक के फिट कंडीशन में होने के बारे में समाधान नहीं किया था।

न्यायदृष्टांत श्रीमती राजरत्ना बाई एस. परिहार विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2007 सी.आर.एल.जे. 2495 (एम.पी.) के मामले में मृत्यु कालीन कथन की फोटोप्रति प्रदर्शित हुई अभियोजन ने मूल पेश करने का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया डॉक्टर से मूल दस्तावेज के बारे में कोई प्रश्न नहीं किये गये। अभियोजन ने धारा 66 साक्ष्य अधिनियम के तहत कोई सूचना पत्र नहीं दिया मूल उपलब्ध नहीं है ऐसी कोई साक्ष्य नहीं थी। पीठासीन अधिकारी भी धारा 165 भारतीय साक्ष्य अधिनियम के तहत अपने कर्तव्यों के पालन में असफल रहे। फोटोप्रति को द्वितीयक साक्ष्य के रूप में ग्राह्य नहीं किया जा सकता यह अभिमत दिया गया।

न्यायदृष्टांत शकुन्तला विरुद्ध स्टेट ऑफ हरियाणा, 2007 सी.आर.एल.जे. 3747 (एस.सी) के अनुसार एकमात्र मृत्यु कालीन कथन के आधार पर ही दोषसिद्धि स्थिर की जा सकती है ऐसा कोई निरपेक्ष नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता कि मृत्यु कालीन कथन पर स्वतंत्र साक्ष्य से पुष्टि के अभाव में विश्वास नहीं किया जा सकता मृत्यु कालीन कथन विश्वसनीय है या नहीं यह मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है इस मामले में न्यायदृष्टांत गंगोत्री सिंह विरुद्ध स्टेट ऑफ यू.पी., जे.टी. 1992 (2) एस.सी. 417, गोवर्धन रोजी विरुद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, जे.टी. 1993 (5) एस.सी. 87, मेशाला रामकृष्णन् विरुद्ध स्टेट ऑफ ए.पी.,जे.टी. 1994 (3) एस.सी. 232 और स्टेट ऑफ राजस्थान विरुद्ध किशोर, जे.टी. 1996 (2) एस.सी. 595 को विचार में लिया गया।

न्यायदृष्टांत शरीफ खान विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2006 (4) एम.पी.एल.जे. 236 के अनुसार मृतक का धारा 161 दण्ड प्रक्रिया संहिता के तहत लेखबद्ध किया गया कथन, 154 दण्ड प्रक्रिया संहिता के तहत लेखबद्ध प्रथम सूचना को साक्षी की मृत्यु के बाद धारा 32 (1) के तहत मृत्यु कालीन कथन के रूप में विचार में लिया जा सकता है इस मामले में यह भी कहा गया कि एक पुलिस अधिकारी जो प्रथम सूचना लेखबद्ध करता है वह सूचनाकर्ता के सही मानसिक स्थिति में होने के बारे में कोई प्रमाणपत्र नहीं लेता है।

न्यायदृष्टांत रविकुमार उर्फ कुट्टी रवि विरुद्ध स्टेट ऑफ तमिलनाडु, 2006 (1) ए.एन.जे. (एस.सी.) 305 के अनुसार ऐसा मृत्यु कालीन कथन जो स्वेच्छया पूर्वक किया गया हो और सत्य हो वह दोषसिद्धि का एकमात्र आधार बनाया जा सकता है मजिस्ट्रेट का यह संतोष अभिलिखित होना जरूरी है कि कथनकर्ता उचित मानसिक दशा में था केवल डॉक्टर का प्रमाणपत्र न होना कथनों को अवैध नहीं बना देता है। इस मामले में न्यायदृष्टांत कोली चुन्नीलाल सउजी विरुद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, (1999) 9 एस.सी. सी. 562 तीन न्यायमूर्ति गण की पीठ को विचार में लिया गया जिसमें यह प्रतिपादित किया गया कि जो व्यक्ति कथन अभिलिखित करता है उसका यह संतोष जरूरी है कि कथन देने वाले सही मानसिक दशा में था केवल डॉक्टर का प्रमाणपत्र न होने से कथन अवैध नहीं हो जाता।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ असम विरुद्ध मॉफीउजद्दीन अहमद ए.आई.आर. 1983 एस.सी. 274 के अनुसार मृत्यु कालीन कथन दोषसिद्धि का आधार बनाया जा सकता है यह आवश्यक नहीं है कि उसकी पुष्टि हो न्यायालय का संतोष जरूरी है कि ऐसा कथन सत्य है। न्यायदृष्टांत रामबिहारी यादव विरुद्ध स्टेट ऑफ बिहार, ए.आई.आर.1988 एस.सी. 1850 के अनुसार सामान्यतः मृत्यु कालीन कथन प्रश्न उत्तर के रूप में लिखा जाना चाहिए लेकिन जहां मृत्यु कालीन कथन विस्तृत न हो और कुछ वाक्यों का हो और कथन कर्ता के वास्तविक शब्दों में हो वहां केवल उसका प्रश्न और उत्तर के रूप में न होना उसे स्वीकार करने या उस पर विश्वास करने के विरुद्ध एक आधार नहीं हो सकता।

कथन लिखने वालों को मृतक की सही दशा के बारे में अपना संतोष भी कर लेना चाहिए। न्यायदृष्टांत सूरज प्रसाद वर्मन विरुद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2006 (2) एम.पी.जे. आर. 86 भी इस बारे में अवलोकनीय है।

कथनकर्ता की मानसिक अवस्था के बारे में डॉक्टर का प्रमाणपत्र लिया जाना आवश्यक नहीं होता है केवल कथन लेखबद्ध करने वाले को यह संतोष होना चाहिए कि कथनकर्ता कथन देने की सही स्थिति में है इस संबंध में लक्ष्मण विरूद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, ए.आई.आर. 2002 एस.सी. 2973 (संवैधानिक पीठ), मोनिया बाई विरूद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2005 (3) एम.पी.एल.जे. 420 अवलोकनीय है।

मृत्यु कालीन कथन प्रश्न उत्तर रूप में नहीं लिखा गया और डॉक्टर का प्रमाणपत्र नहीं लाया गया इन आधारों पर उसे अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

इस संबंध में न्यायदृष्टांत इडला विरूद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2004 (1) एम.पी. एल.जे. 438 अवलोकनीय है। मृत्यु कालीन कथन की ग्राह्यता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कथन कर्ता को उसके मृत्यु की आशंका हो ही इस संबंध में न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ हरियाणा विरूद्ध मांगे राम, 2003 एम.पी.एल. टी. (एस.सी.) 6 अवलोकनीय है।

न्यायदृष्टांत लायकराम विरूद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., 2003 (1) एम.पी.एच.टी. 354 डी.बी. के अनुसार मृत्यु कालीन कथन का स्वेच्छया से किया जाना और सत्य होना तथा किसी प्रभाव के बिना दिया जाना यदि प्रमाणित होता है तो उसकी पुष्टि आवश्यक नहीं है पुष्टि कोई विधि का नियम नहीं है बल्कि प्रज्ञा का नियम है। न्यायदृष्टांत कालिया विरूद्ध स्टेट ऑफ एम.पी., (2013) 10 एस.सी.सी. 758 के अनुसार 100 प्रतिशत जले हुए व्यक्ति का अंगूठा निशानी मृत्यु कालीन कथन पर था। क्या अंगूठे की त्वचा पूरी तरह जल गयी थी या नहीं क्या अंगूठे के कर्ब वगैरह सुरक्षित थे या नहीं यह तथ्य के प्रश्न हैं जो प्रत्येक मामलों के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं इस मामले में न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ एम.पी. विरूद्ध दालसिंह, ए.आई.आर. 2013 एस.सी. 2059, माफा भाई नागर भाई रावल विरूद्ध स्टेट ऑफ गुजरात, लक्ष्मी विरूद्ध ओमप्रकाश, ए.आई.आर. 1992 एस.सी. 2186 और गोविंद अप्पा विरूद्ध स्टेट ऑफ कर्नाटका, ए.आई. आर. 2001 एस.सी. 2383 को विचार में लिया गया। उक्त गोविंद अप्पा वाले मामले में यह भी कहा गया कि मृत्यु कालीन कथन कौन लेखबद्ध करेगा इसका कोई नियम नहीं है मृत्यु कालीन कथन को कोई निर्धारित प्रारूप भी नहीं है केवल कथन लेखबद्ध करने वाला को यह संतोष कर लेना चाहिए कि कथनकर्ता सही शारीरिक और मानसिक स्थिति में और कथन देने लायक है। न्यायदृष्टांत आशा बाई विरूद्ध स्टेट ऑफ महाराष्ट्र, ए.आई.आर. 2013 एस.सी. 341 के अनुसार मृत्यु कालीन कथन का कोई विशेष प्रारूप या प्रक्रिया निर्धारित नहीं है ऐसा भी आवश्यक नहीं है कि कथन केवल मजिस्ट्रेट द्वारा लिया जाये। डॉक्टर का मृतक के फिटनेस के बारे में प्रमाणपत्र भी आवश्यक नहीं होता केवल लेखबद्ध करने वाले व्यक्ति का संतोष आवश्यक होता है व्यक्ति कथन देने की स्थिति में है मृत्यु कालीन कथन की पुष्टि नियम के रूप में आवश्यक नहीं है पुष्टि केवल प्रज्ञा का नियम है।

न्यायदृष्टांत प्रवीण अली विरूद्ध स्टेट ऑफ असम, ए.आई.आर. 2013 एस.सी. 542 के अनुसार मौखिक मृत्यु कालीन कथन भी विश्वसनीय हो सकता है इस मामले में मृतक की पत्नी और ससुर और रिश्तेदार जब घटना स्थल पर पहुंचे तब मृतक होश में था और उसने अभियुक्त गण के नाम बतलाये गवाहों के कथनों में कोई विरोधाभास या लोप नहीं आया ऐसे कथनों के आधार पर की गयी दोषसिद्धि स्थिर रखी गयी।

न्यायदृष्टांत स्टेट ऑफ राजस्थान विरुद्ध सर्वनराम, ए.आई.आर. 2013 एस.सी. 1890 में मृतक का पुलिस ने कथन लिया उसमें उसने आग लगाने वाले का नाम नहीं बताया पड़ोसी को दिये गये कथन में ससुर का नाम बतलाया पड़ोसी के कथन की अन्य उपस्थित व्यक्तियों ने पुष्टि नहीं कि ऐसा कथन अविश्वसनीय नहीं पाया गया। इस तरह वैधानिक स्थिति यह स्पष्ट होती है कि मृत्यु कालीन कथन किसी व्यक्ति का वह कथन होता है जो वह उस समय करता है जब उसे अपने मृत्यु की आशंका होती है। यह माना जाता है कि कोई व्यक्ति अपने ही बनाने वाले या निर्माता के सामने झूठा मुंह लेकर नहीं जाना चाहता। यह भी माना जाता है कि मरते हुए व्यक्ति के अधरों पर सत्य का वास होता है। इन्हीं कारणों से मृत्यु कालीन कथन की साक्ष्य के साथ एक विशेष संवेदनशीलता जुड़ी रहती है। न्यायालय को मृत्यु कालीन कथनों पर विचार करते समय यह आश्वस्त हो जाना चाहिए कि मृतक कथन करने की सही शारिरिक और मानसिक अवस्था में था उसे सिखाये जाने की संभावना नहीं थी। मृतक की अवस्था के बारे में डॉक्टर का प्रमाण पत्र न होना कथनों को दूषित नहीं बनाता है। ऐसे कथन प्रथम सूचना प्रतिवेदन, धारा 161 दं. प्र.सं. के कथन के रूप में भी हो सकते हैं। मौखिक मृत्यु कालीन कथन भी हो सकते हैं। ऐसे कथन सामान्यतः प्रश्न और उत्तर के रूप में होते हैं लेकिन प्रश्न और उत्तर के रूप में नहीं भी हैं तब भी उनकी विश्वसनीयता पर इससे कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। मृत्यु कालीन कथन लेखबद्ध करते समय रिश्तेदार उपस्थित थे मात्र इस कारण उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। मृत्यु कालीन कथन संक्षिप्त है मात्र इस आधार पर उन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। एक से अधिक मृत्यु कालीन कथन होने पर यह विचार करना चाहिए कि कौन से कथन उपलब्ध अन्य साक्ष्य के प्रकाश में अधिक संभाव्य हैं। यदि कथन कर्ता जिन्दा बच जाता है और कथन मजिस्ट्रेट ने लिये हों तो वे पुष्टि कारक साक्ष्य के रूप में उपयोगी हो सकते हैं अन्य दशा में ऐसे कथन पूर्ववर्ती कथन या प्रीवियस स्टेटमेन्ट की श्रेणी में आते हैं। कथनों का कथन कर्ता की मृत्यु के कारण से संबंधित होना चाहिए किन्हीं अन्य बातों के बारे में नहीं। यदि प्रश्न यह है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु किन परिस्थितियों में हुई तब ऐसे कथन उस व्यक्ति की मृत्यु के बाद मृत्युकालीन कथन के रूप में ग्राह्य किये जा सकते हैं और ऐसे कथनों की एक मात्र साक्ष्य पर, पुष्टि के अभाव के बिना भी दोष सिद्धि स्थिर की जा सकती है।

•

यदि आप गलत शब्द बोलते हैं या लिखते हैं तो यह तथ्य यह दर्शाता है कि आप में सही शब्दों का चयन करने की समझ नहीं है।

एक विद्वान

**DIRECTIONS RELATING TO UNDER-TRIAL PRISONERS
VIS-À-VIS SECTION 436-A OF THE CODE OF CRIMINAL
PROCEDURE, 1973 ISSUED BY THE SUPREME COURT
OF INDIA IN VIJAY AGGARWAL V. UNION OF INDIA & ORS.
(W.P. (CRL) NO. 32/2013 DATED 5th SEPTEMBER,2014)**

- Jurisdictional Magistrate/Chief judicial Magistrates/Sessions Judge shall hold one sitting in a week in each jail/prison for two months commencing from 1st October, 2014 for the purposes of effective implementation of Section 436-A of the Code of Criminal Procedure.
- In its sitting in jail, the above judicial officers shall identify the under-trial prisoners who have completed half period of the maximum period or maximum period of imprisonment provided for the said offence under the law and
- After complying with the procedure prescribed under Section 436-A pass an appropriate order in jail itself for release of such under-trial prisoners who fulfil the requirement of Section 436-A for their release immediately.
- Such jurisdictional Magistrate/Chief Judicial Magistrate/Sessions Judge shall submit the report of each of such sitting to the Registrar General of the High Court and
- At the end of two months, the Registrar General of each High Court shall submit the report to the Secretary General of this Court without any delay.

To facilitate the compliance of the above order, we direct the jail Superintendent of each jail/prison to provide all necessary facilities for holding the court sitting by the above judicial officers.

A Copy of this Order shall be sent to the Registrar General of each High Court, who in turn will communicate the copy of the order to all Sessions Judges within his State for necessary compliance.

Extracts from Order:

“...Learned Attorney General informs us that more than 50% of the prisoners in various jails are under-trial prisoners. Even many of them may have served maximum sentence prescribed under the law for the offences they have been charged with. The Parliament by Act 25 of 2005 amended Code of Criminal Procedure, 1973 providing for maximum period for which an under-trial prisoner can be detained under any law not being an offence for which the punishment of death has been specified one of the punishments. Section 436-A reads as follows:-

“436-A. Maximum period for which an under-trial prisoner can be detained where a person has, during the period of investigation, inquiry or trial under this Code of an offence under any law (not being an offence for which the punishment of death has been specified as one of the punishments under that law) undergone detention for a period extending up to one-half of the maximum period of imprisonment specified for that offence under that law, he

shall be released by the Court on his personal bond with or without sureties:

Provided that the Court may, after hearing the Public Prosecutor and for reasons to be recorded by it in writing, order the continued detention of such person for a period longer than one-half of the said period or release him on bail instead of the personal bond with or without sureties:

Provided further that no such person shall in any case be detained during the period of investigation inquiry or trial for more than the maximum period of imprisonment provided for the said offence under that law.

Explanation. – In computing the period of detention under this section for granting bail the period of detention passed due to delay in proceeding caused by the accused shall be excluded.”

Having given our thoughtful consideration to the legislative policy engrafted in Section 436-A and large number of under-trial prisoners housed in the prisons, we are of the considered view that some order deserves to be passed by us so that the under-trial prisoners do not continue to be detained in prison beyond the maximum period provided under Section 436-A.

We, accordingly, direct that jurisdictional Magistrate/Chief judicial Magistrates/Sessions Judge shall hold one sitting in a week in each jail/prison for two months commencing from 1st October, 2014 for the purposes of effective implementation of Section 436-A of the Code of Criminal Procedure. In its sitting in jail, the above judicial officers shall identify the under-trial prisoners who have completed half period of the maximum period or maximum period of imprisonment provided for the said offence under the law and after complying with the procedure prescribed under Section 436-A pass an appropriate order in jail itself for release of such under-trial prisoners who fulfil the requirement of Section 436-A for their release immediately. Such jurisdictional Magistrate/Chief Judicial Magistrate/ Sessions Judge shall submit the report of each of such sitting to the Registrar General of the High Court and at the end of two months, the Registrar General of each High Court shall submit the report to the Secretary General of this Court without any delay.

To facilitate the compliance of the above order, we direct the jail Superintendent of each jail/prison to provide all necessary facilities for holding the court sitting by the above judicial officers.

A Copy of this Order shall be sent to the Registrar General of each High Court, who in turn will communicate the copy of the order to all Sessions Judges within his State for necessary compliance.

The above order may be treated as having been passed in the present case as well with regard to consideration of under-trial prisoners. Connect this Writ Petition with Writ Petition (Criminal) No. 310 of 2005, *Bhim Singh v. Union of India & Ors.*

•

PART - II

NOTES ON IMPORTANT JUDGMENTS

***227. ACCOMMODATION CONTROL ACT, 1961 (M.P.) – Section 12 (1)**

Defendant was a watchman, authorized to remain in possession of the demised premises by plaintiffs – Whether eviction suit under section 12 of the Accommodation Control Act, 1961 is maintainable against him? Held, No – Existence of relationship as landlord and tenant between the parties is necessary to maintain the suit.

स्थान नियंत्रण अधिनियम, 1961 (म.प्र.) – धारा 12 (1)

प्रतिवादी एक चौकीदार था, जिसे वादी द्वारा परिसर में रहने के लिए अधिकृत किया गया था। क्या उसके विरुद्ध धारा 12 स्थान नियंत्रण अधिनियम, 1961 के तहत वाद प्रचलन योग्य है ? अभिनिर्धारित किया गया – नहीं। वाद के प्रचलन योग्य होने के लिए मकान मालिक और किरायेदार के संबंध पक्षकारों के बीच अस्तित्व में होना आवश्यक होता है।

Raju Kushwaha v. Namita Gupta and another

Judgment dated 22.11.2013 passed by the High Court of M.P. in S.A. No. 530 of 2012, reported in 2014 (3) MPLJ 152

•

228. ACCOMMODATION CONTROL ACT, 1961 (M.P.) – Section 12(1) (c) **Denial or refusal of ownership or title over the demised premises by a tenant in respect of a landlord is a good ground for eviction of the tenant from the demised premises.**

स्थान नियंत्रण अधिनियम, 1961 (म.प्र.) – धारा 12 (1) (सी)

किरायेदार द्वारा परिसर के संबंध में मकान मालिक के स्वामित्व से इन्कार किया जाना किरायेदार के विरुद्ध निष्कासन का एक अच्छा आधार होता है।

Sunil Kumar and others v. Dilip and another

Judgment dated 04.12.2013 passed by the High Court of M.P. in S.A. No. 935 of 2009, reported in 2014 (3) M PLJ 177

Extracts from the judgment:

First of all, it has to be considered whether a ground under section 12(1)(C) of the Act could be said to be made out if ownership of the landlord over the demised premises is denied by the tenant in such circumstances? No much debate is required on this issue as this has been held in catena of decisions by this Court as well as by the Apex Court that such a denial would cause a serious prejudice to the landlord as is enumerated in section 12(1)(c) of the Act and, therefore, denial or refusal of ownership or the title on the demised premises by a tenant in respect of a landlord is a good ground for eviction of the tenant from the demised premises. Next question which is required to considered

whether denial of such a title of the appellant landlord on the demised premises was bona fide or not? From the pleadings made in the plaint, it is clear that there was some sort of litigation started on earlier occasion in respect of the very same demised premises. In the earlier suit, which was said to be filed in the Court of First Additional Civil Judge Class-II Shahdol, bearing Civil Suit No. 47-A/1970, it was already held that the original defendant/respondent was the tenant of the appellant/plaintiff in the said demised premises on a monthly rent of Rs. 12/-. It appears that this particular finding was not challenged anywhere, and therefore, no reference to this was made in the written statement filed by the respondent/defendant. In paragraph 3 of the written statement, the respondent/defendant has admitted that there was a litigation between the appellant and the respondent in the Court of Civil Judge Class-II Budhar, District Shahdol. The other fact which is stated is relating to that the demised premises was not closed or was put under the lock by the respondent/original defendant. He categorically contended at paragraph 13 of the written statement that a family dispute in between the appellant and Devendra Kumar, said to be brother of the appellant/plaintiff was going on. However, this suit was said to be filed in the year 1982. Admittedly, before 1982 Devendra Kumar had no right to enter into any agreement with the respondent/defendant for sale of the said house. How he was claiming 1/7 share in the property was not stated, but it is said that he executed an agreement with the respondent/defendant for sale of the very same demised premises to him. How such an agreement could be executed on 26.08.1981 Ex.P/11-A, is not clear. If he had admitted the position that in the earlier suit filed by the very same plaintiff/landlord, the respondent/defendant was proved to be a tenant, and the said Civil Suit filed in the year 1966, was decided in the year 1972 precisely on 10.04.1972 vide Ex.P/4, how could without there being any partition, an agreement could be got executed by one of the alleged member of join Hindu Family for the sale of the demised premises to the respondent, is not stated any where in the written statement. This itself is enough to hold that fraudulently just to delay and deny the decree of eviction to the appellant, such a stand was taken by the respondent/defendant. This particular statement made by the respondent/defendant was never found proved that lawfully he has got the agreement executed in his favour by one of the members of the joint Hindu family, who exclusively had the share in the joint Hindu family property and in the said share, the demised premises was also included. This statement of the respondent/defendant itself was enough to grant a decree of eviction against him, which was rightly considered by the trial Court and granted in favour of the appellant.

•

229. ACCOMMODATION CONTROL ACT, 1961 (MP) – Sections 12 (1) (f), 23-J and 45

Composite suit, maintainability of – Held, such suit is maintainable before Civil Court – Further held, ultimately if the Civil Court holds that except on the ground of bona fide requirement, no other ground is made out to pass eviction decree, passing of eviction decree on the ground of bona fide requirement is within the jurisdiction of the civil court – It would be futile to ask the landlord to go to the Rent Controlling Authority in such a case.

स्थान नियंत्रण अधिनियम, 1961 (म.प्र.) – धारा 12 (1)(एफ), 23(जे) और 45

संयुक्त वाद की प्रचलनशीलता – अभिनिर्धारित किया गया ऐसा वाद व्यवहार न्यायालय के समक्ष चलने योग्य होता है – यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि यदि व्यवहार न्यायालय यह पाती है कि सद्भाविक आवश्यकता के आधार के अलावा अन्य कोई आधार प्रमाणित नहीं होता है तो वह निष्कासन की आज्ञा पारित कर सकती है क्योंकि यह व्यवहार न्यायालय के क्षेत्राधिकार में होता है कि वह सद्भाविक आवश्यकता के आधार पर निष्कासन की आज्ञा पारित कर सकती है – ऐसे मामलों में यह व्यर्थ होगा कि मकान मालिक को भाड़ा नियंत्रण प्राधिकारी के समक्ष जाने के लिए कहा जायें।

Afsar Ara v. Iqbal Sharif and another

Judgment dated 28.11.2013 passed by the High Court of M.P. in S.A. No. 927 of 2007, reported in 2014 (3) MPLJ 324

Extracts from the judgment:

True it is that the need shown by the appellant was for the major son who was also entitled to claim himself as a landlord and a composite suit for bona fide need as also on other grounds as mentioned in section 12 (1) of the Act could have been filed jointly by the appellant along with other landlords, but if the appellant was willing to file the suit as specified landlady, she was required to go to the Rent Controlling Authority only on the ground of bona fide need under section 12 (1) (f) of the Act. The said need as is specifically mentioned under section 23-A of the Act was to be looked into by the Rent Controlling Authority and not by the Civil Court. But, the suit was not filed by the appellant as a specified landlady only on the grounds of bona fide need. The suit was a composite one on the different grounds which are not covered under section 23-A of the Act. It is the choice of the litigant to choose the forum and unless there is complete and specific bar created by law, the right to choose the forum cannot be restricted. This view has been expressed by the Full Bench of this Court in the case of **Ashok Kumar Shiv Prasad Verma v. Baboolal, 1998 (1) MPLJ 461 (F.B.)** where dealing with such a situation in paragraph 5 of the report, the entire consideration is done which reads thus:-

“5. We have bestowed our best of consideration to the interpretation of Section 11-A and we are of the opinion that the provision of Chapter III will not apply to Chapter III-A and not vice-versa. The learned Single Judge has only read it to mean that if the landlords defined in section 23-J seek a remedy of eviction of the tenant then they have only one forum and they cannot take the benefit of going to Civil Court along with other ground, with great respect, is not correct. In fact, this is not the intention of section 11-A. If any landlord wants to get a benefit of summary proceedings of the tenant, who is a landlord defined in section 23-J, then he can immediately invoke the remedy before the Rent Controlling Authority. But, if he does not want to invoke the benefit of that summary remedy then there is no prohibition for him to go to a Civil Court and seek remedy of eviction of the tenant on the basis of reasonable bona fide requirement or on other grounds mentioned in section 12 of the Act. Section 45 does not prohibit the landlord defined in section 23-J from seeking a remedy before the Civil Court. Section 45 only says that no Civil Court shall entertain any suit or proceeding in so far as it relates to fixation of standard rent in relation to any accommodation to which this Act applies or to any other matter which the Rent Controlling Authority is empowered by or under this Act to decide and no injunction in respect of any action taken or to be taken by the Rent Controlling Authority shall be granted. A close reading of this section means that so far as the matter relates to fixation of rent in relation to the accommodation concerned, the Rent Controlling Authority will have the jurisdiction to decide the matter and for any other matter, which the Rent Controlling Authority is empowered by or under this Act to decide, no injunction in respect of any action taken or to be taken by the Rent Controlling Authority shall be granted by any Civil Court or other authority. A simple meaning of this is that if any matter in which suit has been filed by the landlord as defined in section 23-J, for eviction of the tenant on a reasonable bona fide requirement, then to the extent, the jurisdiction of the Civil Court is barred. But, if any landlord defined in section 23-J, files suit before the Civil Court raising a ground of reasonable bona fide requirement or on other grounds mentioned in section 12 of the Act, then the Civil Court can decide the matter and there is no prohibition . If the landlord defined in section 23-J files a simpliciter suit on the ground of reasonable bona fide necessity before the Rent

Controlling Authority then in that case, the Civil Court will have no jurisdiction whatsoever. But to interpret section 45 to mean that the landlord defined in section 23-J will have no right to approach the Civil Court for eviction of the tenant on the ground of a reasonable bona fide requirement, will not be a correct interpretation of section 45. In fact, as already mentioned above, section 11-A is a restrictive provision that Chapter III will not be applicable to the landlords defined in section 23-J under Chapter III-A. But, if the landlord does not want to avail the benefit of Chapter III-A and wants to litigate the matter before the Civil Court as ordinary landlord then section 45 of the Act will not come in his way. In fact, the benefit has been specially provided to the landlord defined in section 23-J whereby he does not cease to be ordinary landlord. The landlord can avail the expeditious remedy under Chapter III-A and if they do not want to avail the remedy under Chapter III-A and wants to litigate as an ordinary citizen, then it is their choice and they cannot be restricted to one particular forum. Alternative forum has been created for the benefit of these persons and that does not exclude the ordinary civil forum, if they do not want to avail the benefit of a privilege which has been created for them under the Act. Therefore, when Chapter III-A is specially inserted for the benefit of the landlords defined in section 23-J and to read it that excludes other civil forum with reference to section 45 will be frustrating the very purpose of the Act. Neither the Full Bench in the case of Paraschand v. Hemant Kumar, 1985 MPLJ 675 nor the Division Bench in the case of B. Johnson Berrard v. C.S. Naidu, 1987 MPLJ 137 has anywhere laid down that the jurisdiction of the Civil Court is barred for the landlords defined in section 23-J of the Act. The view taken by the learned Single Judge that since a special forum has been created under Chapter III-A; therefore, reading with section 45, the landlords defined in section 23-J has to resort to that particular forum and they cannot have a remedy before the Civil Court, with great respect, it is not the correct view taken by the learned Single Judge.”

Yet, another aspect is required to be looked into. In the case of ***Sulochana v. Rajinder Singh, 2009 (1) JLJ 244*** the Apex Court was dealing with almost a similar matter where the bar was sought to be created as prescribed under Section 45 of the Act and the second appeal filed before this Court was allowed. The Apex Court exhaustively dealing with such provisions, came to the conclusion that where eviction of a tenant is sought on various grounds enumerated in Section 12(1) of the Act including a ground of bona fide need, even a specified

landlord is required to approach the Civil Court as for the other reliefs decree cannot be granted by the Rent Controlling Authority under the provisions of Section 23-A of the Act. The only distinction in the present case and in the said case was that there a decree for arrears of rent was also granted. However, the issue has been looked into widely by the Apex Court and it has been held that the parameters prescribed by the Apex Court in the case of ***Dhannalal v. Kalawatibai and others, AIR 2002 SC 2573*** were to be understood in light of the effective findings. If a composite suit was maintainable and ultimately except for grant of bonafide need, the Civil Court reached to the conclusion that no decree is required to be passed, it would be futile to ask the landlord who is not claiming himself a specified landlord, to go to the Rent Controlling Authority asking for such a relief. If in such circumstances, a relief is granted by the Civil Court, it cannot be said to be bad in law. If a suit was filed in such a manner, it was rightly treated to be within the jurisdiction of Civil Court. The provisions of Section 45 of the Act as explained herein above also do not confer any specific power on the Rent Controlling Authority only as it is open to the landlord to choose the forum. This being so, if after holding that a bona fide need is made out by the appellant for eviction of her tenant from the suit accommodation and if a decree is granted to this effect by the Civil Court, in a composite suit where the other grounds of eviction are not made out, it cannot be said that such a decree was beyond the jurisdiction of the Civil Court.

•

230. ACCOMMODATION CONTROL ACT, 1961 (M.P.) – Section 37 (1), (2) and (3)

- (i) **Section 37 (1), (2) and (3) of the Act, scope of – Section 37 (1) and (2) makes it obligatory on the part of the landlord to keep the accommodation in good tenantable condition – If the landlord fails or neglects to make such repair after due notice in writing, the tenant may make those repairs and deduct the expenses from the rent payable to the landlord or recover it from him.**
- (ii) **Section 37 (3) of the Act on the other hand deals with those cases where the accommodation has become uninhabitable or unusable, the tenant may apply to the Rent Controlling Authority for such repairs – Further held, section 37 (3) of the Act includes more than the tenantable repairs covered by section 37 (1) and (2) of the Act.**

स्थान नियंत्रण अधिनियम, 1961 (म.प्र.) – धारा 37 (1), (2) और (3)

- (i) धारा 37 (1) और (2) मकान मालिक पर यह दायित्व डालती है कि वह आवास को किराये पर देने योग्य दशा में रखे – यदि मकान मालिक लिखित सूचना के बाद भी आवश्यक मरम्मत करवाने में असफल रहता है या उपेक्षा करता है तो किरायेदार ऐसे सुधार करवा सकता है और मकान मालिक को देय किराया में से उसका खर्च काट सकता है।

- (ii) धारा 37 (3) अधिनियम उन मामलों से संबंधित है जिसमें आवास रहने योग्य न हो चुका हो तब किरायेदार आवश्यक मरम्मत के लिए भाड़ा नियंत्रण प्राधिकारी को आवेदन कर सकता है – यह भी अभिनिर्धारित किया गया है कि धारा 37 (3) अधिनियम में धारा 37 (1), (2) में लिखित मरम्मत को शामिल करत हुए और अधिक मरम्मत कवर होती है।

Sunil Verma and others v. Balkishan Garg

Judgment dated 12.03.2014 passed by the High Court of M.P. in Writ Petition No. 925 of 2013, reported in ILR (2014) MP 712

Extracts from the judgment:

Sub-section (1) of section 37 of the Act requires the landlord to keep the tenanted accommodation in good and tenantable condition. Sub-section (2) thereof provides that in case the landlord neglects or fails to make such repairs within a reasonable time after notice in writing, the tenant may make those repairs and deduct the expenses of such repairs from the rent or otherwise recoverable from the landlord. Proviso thereto further provides that the amount so deducted or recoverable in any year shall not exceed 1/12th of the rent payable by the tenant for that year. However, the purpose of these provisions is not to convert the tenanted premises into anything different one or permit making any structural changes to it. On the other hand, sub-section (3) of section 37 of the Act deals with those cases where the accommodation has become uninhabitable or unusable except with undue inconvenience are to be made and the landlord neglects or fails to make repairs to make the tenanted premises habitable and usable, the tenant may apply to the Rent Controlling Authority for permission to make such repairs himself. The words “not habitable” or “unusable” used in sub-section (3) distinguishes this provision from sub-sections (1) and (2) of section 37 of the Act as it has to be understood in the context that the accommodation given on rent should be kept reasonably fit for occupation by the tenant and must include something more than tenantable repairs covered by sub-section (1) and (2) of section 37 of the Act as it includes all kinds of tenantable repairs without which the tenanted premises would be neither habitable or usable. As such, within the scope of repairs covered under sub-section (2) of section 37 of the Act, the question that the tenanted premises having rendered uninhabitable or unusable does not arise whereas sub-section (3) of the Act comes into play when the accommodation had become uninhabitable or unusable having a different scope. Sub-section (3) of section 37 of the Act further provides that the tenant has not been given any right to carry out the repairs himself but he has to submit plan and estimate of the cost of repairs to the Rent Controlling Authority who is required to act in accordance with that provision. Section 45 of the Act bars the jurisdiction of the civil Court only in those cases which comes within the jurisdiction of the Rent Controlling Authority. The civil court, therefore, has to apply its mind as regards applicability of section 37(2) or 37(3) of the Act in the facts and circumstances of a given case. If sub-

section (2) of section 37 of the Act applies then the bar as contained in section 45 of the Act shall not come into play whereas if sub-section (3) of section 37 of the Act applies then, in view of the bar under section 45 of the Act, the civil Court has no jurisdiction. But, the question as to whether sub-section (2) or sub-section (3) of section 37 of the Act applies, in the opinion of this Court, facts in that behalf have to be pleaded and proved by the parties and based thereupon, the trial Court need to address upon the issue as regards applicability of sub-section (2) or sub-section (3) of section 37 of the Act.

The aforesaid legal position is well explicit from the judgment of this Court in **Mohammad Yunus v. Ramkalibai**, S.A. No. 414 of 1983 decided on 25.02.1988 reported in **1990(1) MPWN SN 102**. That being so, the trial Court need to examine the facts as to whether the repairs which the petitioners wanted, the respondent to carry out were of the type covered under subsection (3) of section 37 of the Act to decline to exercise the jurisdiction under the provisions of section 37 of the Act.

•

231 ARBITRATION AND CONCILIATION ACT, 1996 – Section 34

- (i) **Whether it is necessary to frame issues in proceeding u/s 34 of the Act of 1996? Held, No – Framing of issues as provided under Order 14 Rule 1 of CPC is not an integral part of proceeding under section 34 of the Act, 1996 – (2009) 17 SCC 796 relied on.**
- (ii) **Permission to lead evidence is not granted by court in proceeding under section 34 of the Act, 1996 – It amounts to procedural impropriety – Case remitted back.**

माध्यस्थ और सुलह अधिनियम, 1996 – धारा 34

- (i) क्या धारा 34 अधिनियम ए 1996 की कार्यवाही में वादप्रश्न विरचित किया जाना आवश्यक है ? अभिनिर्धारित किया गया – नहीं। वादप्रश्न विरचित किया जाना जैसा कि आदेश 14 नियम 1 सी.पी.सी. में प्रावधान है, धारा 34 अधिनियम, 1996 की कार्यवाही का अनिवार्य तत्व नहीं है। (2009) 17 एस.सी.सी. 796 पर विश्वास किया गया।
- (ii) न्यायालय ने धारा 34 अधिनियम ए 1996 की कार्यवाही में साक्ष्य प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं दी। यह प्रक्रियात्मक अशुद्धि या अनौचित्यता के समान है, प्रकरण प्रतिप्रेषित किया गया।

State of M. P. and others v. Som Datt Builders Pvt. Ltd.

Order dated 27.03.2014 passed by the High Court of M.P.in W.P. No. 1705 of 2014, reported in 2014 (3) MPLJ 182

Extracts from the Order:

So far the contention of the petitioners regarding framing of issue is concerned, in the opinion of this Court, this point is no more res integra. The curtains are finally drawn on this issue by the Supreme Court in the case of **Fiza Developers and Inter - Trade Private Limited v. AMCI (India) Private Limited and another, (2009) 17 SCC 796. Para 31** of the said judgment reads as under:-

“31. Applications under section 34 of the Act are summary proceedings with provision for objections by the respondent - defendant, followed by an opportunity to the applicant to “prove” the existence of any ground under section 34(2). The applicant is permitted to file affidavits of his witnesses in proof. A corresponding opportunity is given to the respondent-defendant to place his evidence by affidavit. Where the case so warrants, the Court permits cross-examine of the person swearing to the affidavit. Thereafter, the Court hears arguments and/or receives written submissions and decides the matter. This is of course the routine procedure. The Court may vary the said procedure, depending upon the facts of any particular case or the local rules. What is however clear is that framing of issues as contemplated under Rule 1 of Order 14 of the Code is not an integral part of the process of a proceedings under section 34 of the Act.”

A bare perusal of the impugned order shows that the Court below has not applied its mind nor considered the prayer of the petitioner seeking permission to lead evidence. At this stage, I am not obliged to act as a Court of first instance and to decide whether the permission to lead evidence was required to be given to the parties? I am only concerned with the decision making process adopted by the Court below. In the opinion of this Court, the decision making process is not in accordance with law. Non- consideration of the prayer to lead evidence amounts to procedural impropriety. This also runs contrary to the principle of natural justice and requirement of the Rules of 1997. The Apex Court in ***Shalini Shyam Shetty and another v. Rajendra Shankar Patil, 2010 (4) MPLJ (S.C.) 590 = (2010) 8 SCC 329***, opined that the power under Article 227 of the Constitution can be exercised in order to ensure that law is followed by such tribunals and Courts by exercising jurisdiction which is vested in them and by not declining to exercise the jurisdiction which is vested in them. Apart from this, it was held that the High Court can interfere in exercise of its power of superintendence where there has been a patent perversity in the orders of the tribunals and Courts subordinate to it or where there has been a gross and manifest failure of justice or the basic principles of natural justice have been flouted. In the present case, the Court below has failed to exercise its jurisdiction and did not examine the partial relief prayed for with regard to permission of leading evidence.

I

232. ARBITRATION AND CONCILIATION ACT, 1996 – Part I and Part II

(i) Law as to arbitration, applicability of – Three sets of law applicable to an arbitration are (a) proper law of the contract (b) proper law of arbitration agreement/*lex arbitri* and (c) proper law of the conduct of arbitration/*lex fori/curial law* – Further held, law of substantive contract does not determine law of arbitration

agreement/less arbitri – Parties are entitled to agree that law of one country would govern substantive contract, laws of another Country would apply to arbitration agreement – Parties may also agree that conduct of reference to arbitration would be governed by laws of yet a third country.

- (ii) Proper laws of arbitration agreement (less arbitrary), determination of – Once parties consciously agree that judicial seat of arbitration would be a foreign country and that arbitration agreement would be governed by laws that are applicable to that country, provisions of Part I of the Act of 1996 will have no application to arbitration agreement.
- (iii) Challenge as to enforcement of final award, maintainability of – Although according to agreement entered into between the parties, Arbitration agreement is to be governed by foreign laws – However, if the substantive law governing contract is Indian law, enforcement of final award can be challenged before Courts of India or Courts of that foreign country applying Indian Law.
- (iv) Challenge as to foreign award on ground of public policy, maintainability of – Part I of section 34 of the Act of 1996, applicability of – Although substantive law governing contract may be Indian law, however, if as per the agreement entered into by the parties, laws of foreign country are applicable to arbitration agreement, foreign seated award cannot be challenged before Courts in India – Applicability of section 34 of the Act of 1996 is not dependant on nature of challenge to award but same would be applicable on establishing that 1996 Act is applicable to arbitration.
- (v) Arbitration agreement entered into on or prior to 06.09.2012 [i.e. date of decision of *Balco v. Kaiser Aluminium Technical Services Inc.*, (2012) 4 SCC (Civ) 810] – Such cases would be governed by the law laid down in *Bhatia International v. Bulk Trading S.A.*, (2002) 4 SCC 105 and *Venture Global Engg. v. Satyam Computer Services Ltd.*, (2008) 4 SCC 190 as the ratio of law laid down in *Balco* (supra) has been made prospective in operation by the 5-Judge Bench of the Apex Court.

माध्यस्थ और सुलह अधिनियम, 1996 – भाग 1 और भाग 2

- (i) माध्यस्थ का कानून, प्रयोज्यता – एक माध्यस्थ में विधि के तीन समूह लागू होते हैं:
- (a) संविदा का उचित कानून;
- (b) माध्यस्थ अनुबंध का उचित कानून (लेक्स आरबी टरी);
- (c) माध्यस्थ के संचालन के बारे में उचित कानून (लेक्स फोरी) यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि वास्तविक संविदा का कानून माध्यस्थ अनुबंध के कानून को निर्धारित नहीं करता – पक्षकार इस बात पर सहमत होने के लिए अधिकृत होते हैं

कि वास्तविक संविदा एक देश के कानून से शासित होगी और माध्यस्थ अनुबंध को अन्य देश का कानून लागू होगा – पक्षकार इस बात पर भी सहमत हो सकते हैं माध्यस्थ के निर्देश का संचालन तीसरे देश के कानून से शासित होगा।

- (ii) माध्यस्थ अनुबंध का उचित कानून (लेक्स आरबी टरी) – एक बार पक्षकार इस बात पर सहमत होते हैं माध्यस्थ का न्यायिक समूह विदेश में होगा और माध्यस्थ अनुबंध उस देश में लागू कानून से शासित होगा तब माध्यस्थ अधिनियम 1996 के भाग – 1 के प्रावधान माध्यस्थ अनुबंध पर लागू नहीं होगी।
- (iii) अंतिम अवार्ड के प्रवर्तन को चुनौती की प्रचलनशीलता – यद्यपि पक्षकारों के बीच हुए अनुबंध के अनुसार माध्यस्थ अनुबंध विदेश के कानून से शासित होना था – यदि संविदा की वास्तविक विधि भारतीय विधि है तब अंतिम अवार्ड के प्रवर्तन को भारतीय न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है या विदेशी न्यायालय में भारतीय कानून लागू होगा।
- (iv) लोकनीति के आधार पर विदेशी अवार्ड को चुनौती की प्रचलनशीलता – अधिनियम ए 1996 की धारा 34 के भाग-1 का लागू होना यद्यपि संविदा का तात्विक कानून भारतीय कानून है लेकिन पक्षकारों के बीच हुई अनुबंध के अनुसार माध्यस्थ अनुबंध पर विदेशी कानून लागू होगा – विदेश से पारित अवार्ड को भारतीय न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती – अधिनियम ए 1996 की धारा 34 का लागू होना अवार्ड के चुनौती देने की प्रकृति पर निर्भर नहीं होता है बल्कि अधिनियम ए 1996 क्या माध्यस्थ पर लागू होती है यह महत्वपूर्ण है।
- (v) 6/9/2012 के पूर्व के माध्यस्थ अनुबंध (अर्थात् बालको विरुद्ध केसर एल्युमीनियम टेक्नीकल सर्विसेस, (2012) 4 एस.सी.सी. (सिविल) 810 के निर्णय की तारीख) ऐसा अनुबंध न्यायदृष्टांत भाटिया इन्टरनेशनल विरुद्ध बल्क ट्रेडिंग एस.ए., (2002) 4 एस.सी.सी. 105, और (2008) 4 एस.सी.सी. 190 वेन्चर ग्लोबल इंजीनियरिंग विरुद्ध सत्यम् कम्प्यूटर्स सर्विसेस, में प्रतिपादित विधि से शासित होगा क्योंकि उक्त न्यायदृष्टांत बालको 5 न्यायमूर्ति गण की पीठ भविष्यलक्षी रूप से लागू होगा।

Reliance Industries Limited and another v. Union of India

Judgment dated 28.05.2014 passed by the Supreme Court in Civil Appeal No. 5765 of 2014, reported in (2014) 7 SCC 603

Extracts from the judgment:

Senior Advocate for the respondents has next sought to persuade us that the seat of arbitration shall be in India as the PSC is governed by the law of India. According to the Senior Advocate for the respondents, laws of India would include the Arbitration Act, 1996. Therefore, irrespective of the provisions contained in Article 33.12 of the Arbitration Act, 1996 would be applicable to arbitration proceedings. The English law would be applicable only in relation to the conduct of the arbitration up to the passing of the Partial Final Award.

We are unable to accept the aforesaid submissions of the Senior Advocate for the respondents. As noticed earlier, Article 32.1 itself provides that it shall be subject to the provision of Article 33.12. Article 33.12 provides that the arbitration agreement contained in this Article shall be governed by the laws of England. The term 'laws of England' cannot be given a restricted meaning confined to only curial law. It is permissible under law for the parties to provide for different laws of the contract and the arbitration agreement and the curial law. In **Naviera Amazonica Peruana SA v. Compania Internacional De Seguros Del Peru, (1988) 1 Lloyd's Rep 116 (CA)**, the Court of Appeal in England considered an agreement which contained a clause providing for the jurisdiction of the courts in Lima, Peru in the event of judicial dispute and at the same time contained a clause providing that the arbitration would be governed by the English Law and the procedural law of arbitration shall be the English Law. The Court of Appeal observed as follows :-

“All contracts which provide for arbitration and contain a foreign element may involve three potentially relevant systems of law: (1) the law governing the substantive contract; (2) the law governing the agreement to arbitrate and the performance of that agreement; (3) the law governing the conduct of the arbitration. In the majority of cases all three will be the same. But (1) will often be different from (2) and (3). And occasionally, but rarely (2) may also differ from (3).”

From the above, it is evident that it was open to the parties to agree that the law governing the substantive contract (PSC) would be different from the law governing the arbitration agreement. This is precisely the situation in the present case. Article 32.1 specifically provides that the performance of the contractual obligations under the PSC would be governed and interpreted under the laws of India. So far as the alternative dispute redressal agreement i.e. the arbitration agreement is concerned, it would be governed by laws of England. There is no basis on which the respondents can be heard to say that the applicability of laws of England related only to the conduct of arbitration reference. The law governing the conduct of the arbitration is interchangeably referred to as the curial law or procedural law or the lex fori. The delineation of the three operative laws as given in **Naviera Amazonica** (supra) has been specifically followed by this Court in the case of **Sumitomo Heavy Industries Ltd. v. ONGC Ltd., (1998) 1 SCC 305**. The court also, upon a survey, of a number of decisions rendered by the English Courts and after referring to the views expressed by learned commentators on International Commercial Arbitration concluded that:-

“16.The law which would apply to the filing of the award, to its enforcement and to its setting aside would be the law governing the agreement to arbitrate and the performance of that agreement.”

In coming to the aforesaid conclusion, this Court relied on a passage from Law and Practice of Commercial Arbitration in England, 2nd Edn. by Mustill and Boyd which is as under :

“An agreed reference to arbitration involves two groups of obligations. The first concerns the mutual obligations of the parties to submit future disputes, or an existing dispute to arbitration, and to abide by the award of a tribunal constituted in accordance with the agreement. It is now firmly established that the arbitration agreement which creates these obligations is a separate contract, distinct from the substantive agreement in which it is usually embedded, capable of surviving the termination of the substantive agreement and susceptible of premature termination by express or implied consent, or by repudiation or frustration, in much the same manner as in more ordinary forms of contract. Since this agreement has a distinct life of its own, it may in principle be governed by a proper law of its own, which need not be the same as the law governing the substantive contract.

The second group of obligations, consisting of what is generally referred to as the ‘curial law’ of the arbitration, concerns the manner in which the parties and the arbitrator are required to conduct the reference of a particular dispute. According to the English theory of arbitration, these rules are to be ascertained by reference to the express or implied terms of the agreement to arbitrate. This being so, it will be found in the great majority of cases that the curial law, i.e., the law governing the conduct of the reference, is the same as the law governing the obligation to arbitrate. It is, however, open to the parties to submit, expressly or by implication, the conduct of the reference to a different law from the one governing the underlying arbitration agreement. In such a case, the court looks first at the arbitration agreement to see whether the dispute is one which should be arbitrated, and which has validly been made the subject of the reference, it then looks to the curial law to see how that reference should be conducted and then returns to the first law in order to give effect to the resulting award.

It may therefore be seen that problems arising out of an arbitration may, at least in theory, call for the application of any one or more of the following laws

—

1. The proper law of the contract, i.e., the law governing the contract which creates the substantive rights of the parties, in respect of which the dispute has arisen.

2. The proper law of the arbitration agreement, i.e., the law governing the obligation of the parties to submit the disputes to arbitration, and to honour an award.

3. The curial law, i.e., the law governing the conduct of the individual reference.

1. The proper law of the arbitration agreement governs the validity of the arbitration agreement, the question whether a dispute lies within the scope of the arbitration agreement; the validity of the notice of arbitration; the constitution of the

tribunal; the question whether an award lies within the jurisdiction of the arbitrator; the formal validity of the award; the question whether the parties have been discharged from any obligation to arbitrate future disputes.

2. The curial law governs the manner in which the reference is to be conducted; the procedural powers and duties of the arbitrator; questions of evidence; the determination of the proper law of the contract.

3. The proper law of the reference governs the question whether the parties have been discharged from their obligation to continue with the reference of the individual dispute.

In the absence of express agreement, there is a strong prima facie presumption that the parties intend the curial law to be the law of the 'seat' of the arbitration, i.e., the place at which the arbitration is to be conducted, on the ground that that is the country most closely connected with the proceedings. So in order to determine the curial law in the absence of an express choice by the parties it is first necessary to determine the seat of the arbitration, by construing the agreement to arbitrate."

The same legal position is reiterated by this Court in ***Dozco India (P) Ltd. v. Doosan Infracore Co. Ltd., (2011) 6 SCC 179***. In paragraph 12 of the judgment, it is observed as follows :

"12. In the backdrop of these conflicting claims, the question boils down to as to what is the true interpretation of Article 23. This Article 23 will have to be read in the backdrop of Article 22 and more particularly, Article 22.1. It is clear from the language of Article 22.1 that the whole agreement would be governed by and construed in accordance with the laws of The Republic of Korea. It is for this reason that the respondent heavily relied on the law laid down in *Sumitomo* (supra). This judgment is a complete authority on the proposition that the arbitrability of the dispute is to be determined in terms of the law governing arbitration agreement and the arbitration proceedings have to be conducted in accordance with the curial law. This Court, in that judgment, relying on Mustill and Boyd: *The Law and Practice of Commercial Arbitration in England, 2nd Edn.*, observed in para 15 that where the law governing the conduct of the reference is different from the law governing the underlying arbitration agreement, the court looks to the arbitration agreement to see if the dispute is arbitrable, then to the curial law to see how the reference should be conducted, "and then returns to the first law in order to give effect to the resulting award". In para 16, this Court, in no uncertain terms, declared that the law which would apply to

the filing of the award, to its enforcement and to its setting aside would be the law governing the agreement to arbitrate and the performance of that agreement.”

We are in respectful agreement with the aforesaid judgment. In view of the aforesaid binding precedent, we are unable to accept the submission of the Senior Advocate for the respondents that the Arbitration Act, 1996 has not been excluded by the parties by agreement. For the same reasons, we are unable to approve the conclusions reached by the Delhi High Court that reference to laws of England is only confined to the procedural aspects of the conduct of the arbitration reference. We are also unable to agree with the submission of the Senior Advocate for the respondents that since the issues involved herein relate to the public policy of India, Part I of the Arbitration Act, 1996 would be applicable. Applicability of Part I of Arbitration Act, 1996 is not dependent on the nature of challenge to the award. Whether or not the award is challenged on the ground of public policy, it would have to satisfy the pre-condition that the Arbitration Act, 1996 is applicable to the arbitration agreement. In our opinion, the High Court has committed a jurisdictional error in holding that the provisions contained in Article 33.12 is relevant only for the determination of the curial law applicable to the proceedings. We have already noticed earlier that the parties by agreement have provided that the juridical seat of the arbitration shall be in London. Necessary amendment has also been made in the PSCs, as recorded by the Final Partial Consent Award dated 14th September, 2011. It is noteworthy that the Arbitration Act, 1996 does not define or mention juridical seat. The term ‘juridical seat’ on the other hand is specifically defined in Section 3 of the English Arbitration Act. Therefore, this would clearly indicate that the parties understood that the arbitration law of England would be applicable to the arbitration agreement.

In view of the aforesaid, we are unable to uphold the conclusion arrived at by the Delhi High Court that the applicability of Arbitration Act, 1996 to the arbitration agreement in the present case has not been excluded.

•

233. CIVIL PROCEDURE CODE, 1908 – Section 9

CONSUMER PROTECTION ACT, 1986 – Section 2(d)

- (i) **Whether a Government servant is covered under the definition of “Consumer” as defined under section 2 (1)(d)(II) of the Act of 1986, when he files a claim for retiral benefits like GPF, gratuity, etc. in the Consumer Forum? Held, No.**
- (ii) **What is the object and purpose of the Consumer Protection Act, 1986? The Act of 1986 was enacted to provide for better protection of interest of consumers, such as the right to be protected against marketing of hazardous goods, to give him information about the quality, quantity, potency, purity, standard**

and price of goods, to protect him against unfair trade practices, right to seek redressal against an unscrupulous exploitation of consumers, etc.

- (iii) **A decree passed by a Court having no jurisdiction over the subject-matter – Amounts to nullity – Any court cannot derive jurisdiction apart from the Statute – Even doctrine of waiver does not apply – Consent of the parties is immaterial.**

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – धारा 9

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 – धारा 2 (डी)

- (i) क्या एक शासकीय सेवक धारा 2 (1) (डी) (II) अधिनियम, 1986 में परिभाषित “उपभोक्ता” की परिभाषा में आता है, जब वह अपने सेवा निवृत्ति के लाभों जैसे जी.पी.एफ., ग्रेजुएटी आदि का दावा प्रस्तुत करता है? अभिनिर्धारित किया गया – नहीं।
- (ii) उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 का उद्देश्य और प्रयोजन क्या है? अधिनियम ए 1986 उपभोक्ताओं के हितों के बेहतर रक्षण जैसे उन्हें हानिकारक पदार्थों के बेचे जाने के विरुद्ध उनके अधिकारों की रक्षा करना, उन्हें वस्तुओं की गुणवत्ता, मात्रा, शक्ति, शुद्धता, मानक और मूल्य के बारे में जानकारी देना, उन्हें अनुचित व्यापारिक गतिविधियों से बचाना, उपभोक्ताओं को अनैतिक शोषण के विरुद्ध क्षतिपूर्ति पाने का अधिकार दिलवाना आदि के लिए बनाया गया।
- (iii) एक डिक्री जो ऐसे न्यायालय द्वारा पारित की गयी, जिसे उसकी विषय वस्तु के बारे में क्षेत्राधिकार नहीं था – शून्य है। कोई न्यायालय अधिनियम से मिले क्षेत्राधिकार के अलावा क्षेत्राधिकार उत्पन्न नहीं कर सकती। यहां तक की अधित्यजन का सिद्धांत भी लागू नहीं होता है। पक्षकारों की सहमति तात्विक नहीं होती है।

Jagmittar Sain Bhagat and others v. Director, Health Services, Haryana and others

Judgment dated 11.07.2013 passed by the Supreme Court in Civil Appeal No. 5476 of 2013, reported in 2014 (3) MPLJ 28 (SC)

Extracts from the judgment:

Indisputable, it is a settled legal proposition that conferment of jurisdiction is a legislative function and it can neither be conferred with the consent of the parties nor by a superior Court, and if the Court passes a decree having no jurisdiction over the matter, it would amount to nullity as the matter goes to the root of the cause. Such an issue can be raised at any stage of the proceedings. The finding of a Court or Tribunal becomes irrelevant and unenforceable/inexecutable once the forum is found to have no jurisdiction. Similarly, if a Court/Tribunal inherently lacks jurisdiction, acquiescence of party equally should not be permitted to perpetuate and perpetrate, defeating the legislative animation. The Court cannot derive jurisdiction apart from the Statute. In such eventuality the doctrine of waiver also does not apply. (Vide :

United Commercial Bank Ltd.

v. Their Workmen, AIR 1951 SC 230; Smt. Nai Bahu v. Lala Ramnarayan and others, AIR 1978 SC 22; Natraj Studios (P) Ltd. v. Navrang Studios and another, AIR 1981 SC 537; and Kondiba Dagadu Kadam v. Savitribai Sopan Gujar and others, AIR 1999 SC 2213).

Law does not permit any Court/tribunal/authority/forum to usurp jurisdiction on any ground whatsoever, in case, such a authority does not have jurisdiction on the subject-matter. For the reason that it is not an objection as to the place of suing;, “it is an objection going to the nullity of the order on the ground of want of jurisdiction”. Thus, for assumption of jurisdiction by a Court or a tribunal, existence of jurisdictional fact is a condition precedent. But once such jurisdictional fact is found to exist, the Court or tribunal has power to decide on the adjudicatory facts or facts in issue. (Vide: ***Setrucharlu Ramabhadra Raju Bahadur v. Maharaja of Jeypore, AIR 1919 PC 150; State of Gujarat v. Rajesh Kumar Chimanlal Barot and another, AIR 1996 SC 2664; Harshad Chiman Lal Modi v. D.L.F. Universal Ltd. and another, AIR 2005 SC 4446; and Carona Ltd. v. M/s Parvathy Swaminathan and Sons, AIR 2008 SC 187).***

The Act was enacted to provide for the better protection of interest of consumers, such as the right to be protected against marketing of goods which are hazardous to life and property; the right to be informed about the quality, quantity, potency, purity, standard and price of goods, to protect the consumer against unfair trade practices; and right to seek redressal against an unscrupulous exploitation of consumers, and further to provide right to consumer education etc. as is evident from the statement of objects and reasons of the Act.

In view of the above, it is evident that by no stretch of imagination a government servant can raise any dispute regarding his service conditions or for payment of gratuity or GPF or any of his retiral benefits before any of the Forum under the Act. The government servant does not fall under the definition of a “Consumer” as defined under section 2(1)(d)(ii) of the Act. Such Government servant is entitled to claim his retiral benefits strictly in accordance with his service conditions and regulations or statutory rules framed for that purpose. The appropriate forum, for redressal of any of his grievance, may be the State Administrative Tribunal, if any, or Civil Court but certainly not a Forum under the Act.

•

234. CIVIL PROCEDURE CODE, 1908 – Order 2 Rule 2

Bar under Order 2 Rule 2 CPC, applicability of – Earlier suit for permanent injunction was dismissed and attained finality as no appeal filed against such dismissal – Subsequent suit filed for declaration and possession was contested by the defendant on the ground that suit is barred under Order 2 Rule 2 of the Code – As relief of possession was not claimed in the earlier suit, therefore, it would be presumed that the plaintiff has relinquished such part of the claim – Held, since the cause of action on the basis of which the previous suit was brought does not form the foundation of the

subsequent suit and in earlier suit the plaintiff could not have claimed the relief which he sought in the subsequent suit, the plaintiff's subsequent suit is not barred by Order 2 Rule 2 CPC.

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – आदेश 2 नियम 2

आदेश 2 नियम 2 की बाधा, लागू होना – स्थायी निषेधाज्ञा का पूर्व वाद खारिज हुआ था और वह (उसका निर्णय) अंतिम हो चुका था क्योंकि उस खारिजी के विरुद्ध कोई अपील प्रस्तुत नहीं की गयी थी – पश्चात्पूर्ती वाद घोषणा और आधिपत्य के लिए प्रस्तुत हुआ जिसे प्रतिवादी द्वारा आदेश 2 नियम 2 सी.पी.सी. की बाधा के आधार पर विवादित किया गया कि आधिपत्य की सहायता पूर्व के वाद में नहीं मांगी गयी थी, यह उपधारित किया जायेगा कि वादी ने अपने अनुतोष का वह भाग त्याग दिया है – अभिनिर्धारित किया गया, चूंकि पूर्व वाद का वाद कारण का आधार पश्चात्पूर्ती वाद का आधार नहीं बनाया गया पूर्व वाद में वादी यह अनुतोष नहीं मांग सकता था इस कारण पश्चात्पूर्ती वाद आदेश 2 नियम 2 सी.पी.सी. से बाधित नहीं होगा।

Rajendra Singh v. Kaloo Singh

Judgment dated 14.03.2013 passed by the High Court in Miscellaneous Appeal No. 2569 of 2011, reported in ILR (2014) MP 421

Extracts from the judgment:

It is submitted that since the relief of possessions was not claimed in the earlier suit therefore it is presumed that respondent relinquished that part of the claim. Learned counsel further submits that even if it is assumed that respondent was not entitled to file the suit subsequently for possession, then too, there was no justification on the part of learned appellate court to remand the case. For this contention reliance is placed on a decision in the matter of ***Municipal Corporation, Hyderabad Vs. Sunder Singh, (2008) 8 SCC 485*** wherein it was observed that 'before invoking the provision regarding remand of a case by the appellate court under Order 41 Rule 23 CPC the conditions precedent laid down therein must be satisfied, Order 41 Rule 23 would be applicable when a decree has been passed on a preliminary issue. The appellate court must disagree with the findings of the trial court on the said issue. Only when a decree is to be reversed in appeal, the appellate court may if it considers necessary, remand the case in the interest of justice.' It is submitted that appeal be allowed and impugned judgment passed by the learned appellate court be set aside.

Learned counsel for respondent submits that since the subsequent suit filed by respondent is on a different cause of action for which the cause of action accrued to the respondent on 23.06.2008 when the former suit filed by the respondent was dismissed, therefore the suit filed by the respondent does not hit by Order II Rule 2 CPC. Learned counsel placed reliance on a decision in the matter of ***Sidramapaa v Rajashetty, AIR 1970 SC 1659***, wherein Hon. Apex Court observed that 'cause of action in subsequent suit is different and relief asked for in subsequent suit not one which could have been asked for in earlier suit, it was held that subsequent suit is not barred.' Learned counsel further

submits that since the suit was dismissed mainly on the ground that because of Order II Rule 2 CPC the suit filed by the respondent is not maintainable, therefore learned court below committed no error in remanding the case in whole. It is submitted that appeal has no merits and same be dismissed.

In the aforesaid matter the Hon'ble Apex Court has further observed that where the cause of action on the basis of which the previous suit was brought does not form the foundation of the subsequent suit and in the earlier suit the plaintiff could not have claimed the relief which he sought in the subsequent suit, the plaintiff's subsequent suit is not barred by Order II Rule 2 CPC. In the matter of **Shri Inacio Martines v. Narayan Hari Naik, AIR 1993 SC 1756** wherein earlier suit for injunction was dismissed and subsequent suit was for declaration of title with recovery of possession, the Hon'ble Apex Court has held that the subsequent suit is not barred by principles of res-judicata. Keeping in view the aforesaid position of law, this court finds that the learned Appellate court has not committed any error in allowing this appeal and setting aside the order passed by the learned trial court in remanding the case

|

**235. CIVIL PROCEDURE CODE, 1908 – Order 40 Rule 1
TRANSFER OF PROPERTY ACT, 1882 – Section 106**

- (i) Receiver – Appointed to preserve estate – If finds necessary to file a eviction suit for preserving the estate, he can file such type of suit.
- (ii) If the notice is short of the period specified in sub-section (1) of section 106 of T.P. Act but the suit is filed after the expiry of the period mentioned in sub-section (1) of section 106, the notice shall not be declared or deemed to be invalid.

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – आदेश 40 नियम 1

सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 – धारा 106

- (i) रिसीवर – सम्पदा की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया गया – यदि वह सम्पदा को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक पाता है कि निष्कासन का वाद प्रस्तुत किया जाये तो वह ऐसा वाद प्रस्तुत कर सकता है।
- (ii) यदि सूचनापत्र की अवधि धारा 106 (1) सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम में बतलायी अवधि से कम हो किन्तु वाद धारा 106 (1) सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम में लिखित अवधि समाप्त हो जाने के बाद प्रस्तुत किया गया हो तब सूचनापत्र को अवैध घोषित नहीं किया जा सकेगा और न अवैध समझा जा सकेगा।

Shree Ram Urban Infrastructure Ltd. (Formerly Known as Shree Ram Mills Ltd.) v. Court Receiver, High Court of Bombay Judgment dated 09.05.2014 passed by the Supreme Court in C.A. No. 5528 of 2014, reported in AIR 2014 SC 2286

Extracts from the judgment:

In ***Krupati Venkata Mallayya and another v. Thondepu Ramaswami and Co. and another*** AIR 1964 SC 818, a four- Judge Bench of this Court held that the Receiver has a right to institute a suit when the authority has been given to the Receiver to preserve the estate. Such authority is wide enough to empower the Receiver, as he thought necessary, for preserving the estate and such authority, in our opinion, includes to institute a suit, as has been held by this Court.

We have considered all the points which have been urged by learned senior counsel appearing on behalf of the appellant. We are not able to accept his contention that the Receiver without leave of the court, cannot file a suit in the factual matrix of this case. We have also taken into account that obtaining of leave of the court before filing of the suit cannot be fatal and the same can be cured in law and is merely an irregularity. We have also considered the decision of this Court in ***Kurapati Venkata Mallayya*** (supra) and find that when authority has been given to the Receiver to preserve the estate, it empowers the Receiver, i.e., for preserving the estate, he has a right to institute the suit and, accordingly, in the light of the said judgment, we express our opinion and accept the reasoning given by the High Court that the Receiver had the authority to institute a suit for preserving the estate. Therefore, we do not accept the contention of learned senior counsel, on such question. The second point urged by learned senior counsel, is that the suit is bad with regard to Section 106 of the Transfer of Property Act. We have duly considered the said question, and we find that the suit was filed after six months from the date of the notice issued under Section 106 of the Transfer of Property Act, by the Receiver and furthermore, after the amendment of Section 106(3) which reads as follows;

“(3) A notice under sub-section (1) shall not be deemed to be invalid merely because the period mentioned therein falls short of the period specified under that sub-section, where a suit or proceeding is filed after the expiry of the period mentioned in that subsection”.

We have noticed that the High Court duly considered the question of notice and correctly came to the conclusion that the Legislature wanted to plug the loopholes and to redress the mischief by making a change in the law. Therefore if the notice is short of the period specified in sub-section (1) but the suit or proceeding is filed after the expiry of the period mentioned in sub- section (1), the notice shall not be deemed to be invalid – Clearly, in this matter, the notice was issued on July 26, 2001 and the suit was actually filed on February 6, 2002 - after six months and, therefore, the notice cannot be declared or deemed to be invalid.

•

***236. CIVIL PROCEDURE CODE, 1908 – Order 41 Rule 27**

- (i) **Production of additional evidence in appellate court under Order 41 Rule 27 CPC, permissibility of – The party seeking to produce additional evidence is required to establish that despite exercise of due diligence, such evidence was not within his knowledge or he could not after due diligence produce the same at the time of passing the decree before the trial Court.**
- (ii) **Application under Order 6 Rule 17 CPC, maintainability of – Application for seeking amendment as to the incorporation of verdict of Supreme Court, is not maintainable.**

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – आदेश 41 नियम 27

- (i) अपील न्यायालय में आदेश 41 नियम 27 सी.पी.सी. के तहत अतिरिक्त साक्ष्य का प्रस्तुत किया जाना – अनुज्ञेयता – वह पक्षकार जो अतिरिक्त साक्ष्य प्रस्तुत करना चाहता है उसे यह स्थापित करना होगा कि सम्यक् सतर्कता के बावजूद संबंधित साक्ष्य उसके ज्ञान में नहीं आ सका था या सम्यक् सार्थकता के बावजूद वह उस साक्ष्य को उस समय प्रस्तुत नहीं कर सका था जब विचारण न्यायालय में आज्ञापति पारित की जा रही थी।
- (ii) आदेश 6 नियम 17 सी.पी.सी. का आवेदन, प्रचलनशीलता – सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय संशोधन द्वारा जोड़ने के लिए आवेदन प्रचलन योग्य नहीं होता है।

Bhgwati (Smt.) v. M.P. Housing Board & anr.

Judgment dated 13.08.2013 passed by the High Court of M.P. in Second Appeal No. 1160 of 2008, reported in ILR (2014) MP 441

•

237. CONSTITUTION OF INDIA – Articles 14 and 50

CIVIL PROCEDURE CODE, 1908 – Section 11

- (i) **The doctrine of separation of powers – Is a consequence of principle of equality enshrined in Article 14 of the Constitution of India – Breach of separation of judicial powers may amount to negation of equality under Article 14 – A legislation can be invalidated on the basis of breach of the separation of powers.**
- (ii) **The doctrine of separation of powers applies to the final judgments of the Courts – Legislation cannot declare any decision of court to be void or of no effect – Legislature can pass an amending Act to remedy the defects pointed out by a Court of law and Court's decision must always bind unless the conditions on which it is based are so fundamentally altered that the decision could not have been given in the altered circumstances – The legislature cannot by invoking 'public trust doctrine' or 'precautionary principles' indirectly control the action of the Courts and directly or indirectly set aside the authoritative and binding finding of fact by the Court.**

- (iii) **Rule of res judicata** – Prevents not only a new decision in the subsequent suit but also prevents new investigation – It prevents the defendant from setting up of a plea in a subsequent suit which was decided between the parties in the previous proceeding – Such proceeding need not be in the nature of suit – Decision on a matter in controversy in writ proceedings (Article 226 or Article 32 of the Constitution) operates as res judicata in subsequent suit on the same matters in controversy between the same parties.

भारत का संविधान – अनुच्छेद 14 और 50

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – धारा 11

- (i) शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत – यह भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 द्वारा सुरक्षित समानता के सिद्धांत के परिणामस्वरूप है – न्यायिक शक्तियों के पृथक्करण का उल्लंघन अनुच्छेद 14 के अधीन समानता से इन्कार के समान हो सकता है – शक्तियों के पृथक्करण के उल्लंघन के आधार पर एक विधान को अमान्य या रद्द किया जा सकता है।
- (ii) शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत न्यायालयों के अंतिम निर्णयों को लागू होता है विधान न्यायालय के निर्णय को शून्य या अप्रभावी घोषित नहीं कर सकता है – विधान मंडल एक संशोधित अधिनियम न्यायालय द्वारा बतलायी गयी त्रुटियों के उपचार के लिए पारित कर सकता है – न्यायालयों के निष्कर्ष हमेशा बंधनकारी होते हैं जब तक कि ऐसी स्थितियां न हो जिनमें जिन बातों पर निर्णय आधारित था वे मूलभूत रूप से परिवर्तित कर दी गयी है जिन परिवर्तित परिस्थितियों में ऐसा निर्णय नहीं दिया जा सकता – विधान मंडल “लोक विश्वास का सिद्धांत” या सावधानी का सिद्धांत लगाकर अप्रत्यक्ष रूप से न्यायालयों की क्रिया को नियंत्रित नहीं कर सकते हैं और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीके से बाध्यकारी तथ्यों के निष्कर्ष को अपास्त नहीं कर सकते हैं।
- (iii) पूर्व-न्याय का नियम – यह न केवल पश्चात्पूर्ति वाद में नये निर्णय को रोकता है बल्कि पश्चात्पूर्ति अन्वेषण को भी रोकता है – यह प्रतिवादी को ऐसा बचाव लेने से पश्चात्पूर्ति मामले रोकता है जो बिन्दु पूर्व की कार्यवाही में पक्षकारों की बीच निर्णित हो चुका था ऐसी कार्यवाही केवल वाद की प्रकृति की हो यह आवश्यक नहीं है एक बिन्दु पर निर्णय जो किसी रिट कार्यवाहियों में (अनुच्छेद 226 या अनुच्छेद 32 भारतीय संविधान) दिया गया हो वह भी पश्चात्पूर्ति वाद में पूर्व न्याय या रेस जूडीकेटा की तरह लागू होता है यदि समान पक्षकारों के बीच समान विवादित बिन्दु हो।

State of Tamil Nadu v. State of Kerala & anr.

Judgment dated 07.05.2014 passed by the Supreme Court in Original Suit No. 3 of 2006 reported in AIR 2014 SC 2407 (Five Judges Bench)

Extracts from judgment:

Following are the constitutional principles in the context of Indian Constitutional relating to separation of powers between legislature, executive and judiciary may, in brief, be summarized thus:

- (i) Even without express provision of the separation of powers, the doctrine of separation of powers is an entrenched principle in the Constitution of India. The doctrine of separation of powers informs the Indian constitutional structure and it is an essential constituent of rule of law. In other words, the doctrine of separation of power though not expressly engrafted in the Constitution, its sweep, operation and visibility are apparent from the scheme of Indian Constitution. Constitution has made demarcation, without drawing formal lines between the three organs & legislature, executive and judiciary. In that sense, even in the absence of express provision for separation of power, the separation of power between legislature, executive and judiciary is not different from the constitutions of the countries which contain express provision for separation of powers.
- (ii) Independence of courts from the executive and legislature is fundamental to the rule of law and one of the basic tenets of Indian Constitution. Separation of judicial power is a significant constitutional principle under the Constitution of India.
- (iii) Separation of powers between three organs & legislature, executive and judiciary - is also nothing but a consequence of principles of equality enshrined in Articles 14 of the Constitution of India. Accordingly, breach of separation of judicial power may amount to negation of equality under Article 14. Stated thus, a legislation can be invalidated on the basis of breach of the separation of powers since such breach is negation of equality under Article 14 of the Constitution.
- (iv) The superior judiciary (High Courts and Supreme Court) is empowered by the Constitution to declare a law made by the legislature (Parliament and State legislatures) void if it is found. have transgressed the constitutional limitations or if it infringed the rights enshrined in Part III of the Constitution
- (v) The doctrine of separation of powers applies to the final judgments of the courts. Legislature cannot declare any decision of a court of law to be void or of no effect. It can, however, pass an amending Act to remedy the defects pointed out by a court of law or on coming to know of it aliunde. In other words, a court's decision must always bind unless the conditions on which it is based are so fundamentally altered that the decision could not have been given in the altered circumstances.

- (vi) If the legislature has the power over the subject-matter and competence to make a validating law, it can at any time make such a validating law and make it retrospective. The validity of a validating law, therefore, depends upon whether the legislature possesses the competence which it claims over the subject-matter and whether in making the validation law it removes the defect which the courts had found in the existing law.
- (vii) The law enacted by the legislature may apparently seem to be within its competence but yet in substance if it is shown as an attempt to interfere with the judicial process, such law may be invalidated being in breach of doctrine of separation of powers. In such situation, the legal effect of the law on a judgment or a judicial proceeding must be examined closely, having regard to legislative prescription or direction. The questions to be asked are, (i) Does the legislative prescription or legislative direction interfere with the judicial functions? (ii) Is the legislation targeted at the decided case or whether impugned law requires its application to a case already finally decided? (iii) What are the terms of law; the issues with which it deals and the nature of the judgment that has attained finality? If the answer to (i) to (ii) is in the affirmative and the consideration of aspects noted in question (iii) sufficiently establishes that the impugned law interferes with the judicial functions, the Court may declare the law unconstitutional.

Following are four principles of the Public Trust doctrine:

- “(1) The State as sovereign “retains continuing supervisory control” over navigable waters and underlying beds;
- (2) The legislature, either directly or through the water rights agency, has the right to grant usufructuary water rights even though such rights will “not promote, and may unavoidably harm, the trust uses at the sources stream;”
- (3) The State has the “affirmative duty” to take the public trust into account in planing and allocating water resources; and
- (4) The State has a “duty of continuing supervision” over water rights even after such rights have been granted.”

Public trust doctrine, Roderick E. Walston says, is regarded by some as an exercise of sovereign State regulatory, analogous to the police power.

It is true that the State’s sovereign interests provide the foundation of the public trust doctrine but the judicial function is also a very important sovereign function of the State and the foundation of the rule of law. The legislature cannot be invoking ‘public trust doctrine’ or ‘precautionary principle’ indirectly control the action of the Courts and directly or indirectly set aside the authoritative and binding finding of fact by the Court, particularly, in situations where the executive branch (Government of the State) was a party in the litigation and the final judgment was delivered after hearing them.

Analysis of the Mullaperiyar Environmental Protection Forum Judgment (2006 Judgment).

Mr. Harish Salve, learned senior counsel is right in his submission that a legislation can never be challenged on the principles of res judicata and that it binds a party and not the legislature. The question here is not that the 2006 (Amendment) Act is unconstitutional on the ground of res judicata but the question is, when a categorical finding has been recorded by this Court in the earlier judgment that the dam is safe for raising the water level to 142 ft. and permitted the water level of the dam being raised to 142 ft. and that judgment has become final and binding between the parties, has the Kerala legislature infringed the separation of powers doctrine in enacting such law? In what has already been discussed above, the answer to the question has to be in the affirmative and we hold so.

Where a dispute between two States has already been adjudicated upon by this Court, which it is empowered to deal with, any unilateral law enacted by one of the parties that results in overturning the final judgment is bad not because it is affected by the principles of res judicata but because it infringes the doctrine of separation of powers and rule of law, as by such law, the legislature has clearly usurped the judicial power.

In our view, the rule of res judicata which is founded on public policy prevents not only a new decision in the subsequent suit but also prevents new investigation. It prevents the defendant from setting up a plea in a subsequent suit which was decided between the parties in the previous proceedings. The legal position with regard to rule of res judicata is fairly well-settled that the decision on a matter in controversy in writ proceeding (Article 226 or Article 32 of the Constitution) operates as res judicata in subsequent suit on the same matters in controversy between the same parties. For the applicability of rule of res judicata it is not necessary that the decision in the previous suit must be the decision in the suit so as to operate as res judicata in a subsequent suit. A decision in previous proceeding, like under Article 32 or Article 226 of the Constitution, which is not a suit, will be binding on the parties in the subsequent suit on the principle of res judicata.

For the applicability of rule of res judicata, the important thing that must be seen is that the matter was directly and substantially in issue in the previous proceeding and a decision has been given by the Court on that issue. A decision on issue of fact in the previous proceeding- such proceeding may not be in the nature of suit - constitutes res judicata in the subsequent suit.

Explanation VII and VIII were inserted in the above provision by Code of Civil Procedure (Amendment) Act, 1976 w.e.f. 1.2.1977. Explanation VIII in this regard is quite relevant. The principles of res judicata, thus, have been made applicable to cases which are tried by Courts of limited jurisdiction. The decisions of the Courts of limited jurisdiction, insofar as such decisions are within the competence of the Courts of limited jurisdiction, operate as res judicata in a

subsequent suit, although, the Court of limited jurisdiction that decided the previous suit may not be competent to try such subsequent suit or the suit in which such question is subsequently raised. If a decision of the Court of limited jurisdiction, which was within its competence, operates as res judicata in a subsequent suit even when the subsequent suit is not triable by it, a fortiori, the decision of the highest Court of the land in whatever jurisdiction given on an issue which was directly raised, considered and decided must operate as res judicata in the subsequent suit triable exclusively by the highest Court under Article 131 of the Constitution. Any other view in this regard will be inconsistent with the high public policy and rule of law. The judgment of this Court directly upon the point, is as a plea, a bar, or as evidence conclusive between the same parties, upon the same matter, directly in question before this Court, thought, label of jurisdiction is different.

•

***238 CONSTITUTION OF INDIA – Articles 14, 15, 16, 19, 21 and 253**

- (i) **“Citizen” – Meaning, scope and extent – “Citizen” is gender neutral and also covers hijras/TGs who are neither male or female.**
- (ii) **Prohibition of discrimination based on “sex”–Scope of expression “sex” – It is not just limited to biological sex of male or female, but include people who consider themselves to be neither male nor female – TG’s are also entitled to reservation in the matter of appointment.**
- (iii) **Rule of Law – Is the rule of proper law, which balances the needs of society and the individual – It is the duty of the court to protect this rich concept of the rule of law.**
- (iv) **Judicial Role in democracy – Role is not only to decide the dispute before the court but to uphold the rule of law and ensure access to justice to marginalised sections of society like TGs.**
- (v) **Freedom of Expression guaranteed under Article 19 (1) (a) – ‘Expression’ includes to express one’s chosen gender identity through varied ways and means by way of expression, speech, mannerism, clothing, etc.**
- (vi) **Whether transgenderism is a disease? Transgendorism is not a disease at all, but a benign normal variant of the human experience akin to left-handedness.**
- (vii) **Recognition and enforcement of international conventions by municipal courts in India – Generally, a legislation is required for implementing the international convention – Those covenants, which India has ratified, can be used by the municipal courts as an aid to the interpretation of statutes by applying the doctrine of harmonious construction – Domestic courts are under an obligation to give due regard to the international conventions and norms for construing the domestic laws, more**

so, when there is no inconsistency between them and are not void in domestic law.

भारत का संविधान – अनुच्छेद 14 से 16, 19, 21 और 153

- (i) “नागरिक” – अर्थ, क्षेत्र और विस्तार – “नागरिक”लिंग तटस्थ होता है और इसमें हिजड़े/ट्रांसजेन्डर भी शामिल हैं जो न नर होते हैं और न मादा।
- (ii) लिंग पर आधारित भेदभाव का प्रतिषेध – शब्द लिंग का क्षेत्र – यह केवल जीव वैज्ञानिक लिंग नर या मादा तक सीमित नहीं है बल्कि इसमें वे लोग भी शामिल हैं जो अपने आप को न नर मानते हैं और न मादा मानते हैं – ट्रांसजेन्डर भी नियुक्ति के मामले में आरक्षण के अधिकारी होते हैं।
- (iii) कानून का शासन – उचित कानून का शासन होता है जो समाज की आवश्यकताओं और व्यक्तिगत आवश्यकताओं के बीच संतुलन करता है – यह न्यायालय का कर्तव्य है कि वह विधि के शासन की इस समृद्ध धारणा की सुरक्षा करे।
- (iv) प्रजातंत्र में न्यायिक भूमिका – इस भूमिका में न केवल न्यायालय के सामने आने वाले विवादों का निराकरण करना है बल्कि कानून के शासन को बनाये रखना है और न्याय तक समाज के अल्पसंख्यक वर्ग जैसे हिजड़े या ट्रांसजेन्डर की पहुंच सुनिश्चित करना है।
- (v) अनुच्छेद 19 (1) (ए) भारत के संविधान द्वारा संरक्षित वाक् स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में लिंग द्वारा पहचान भी शामिल है और इसका अर्थ वाक् स्वतंत्रता, आदि है।
- (vi) क्या हिजड़ापन एक बीमारी है ? यह एक बीमारी नहीं है बल्कि मानवीय अनुभव का एक सामान्य रूपभेद है।
- (vii) भारत के न्यायालयों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को मान्यता देना और उन्हें लागू करना, सामान्यतः एक कानून अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के आधार पर लागू करना होता है – वे समझौते जिनका भारत द्वारा अनुसमर्थन किया गया हो उन्हें भारतीय न्यायालय उपयोग कर सकती हैं और उनकी सहायता से कानून का अर्थान्वयन सद्भावनापूर्ण अर्थान्वयन के सिद्धांत को लागू करके कर सकते हैं। न्यायालय पर यह दायित्व है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को सम्यक् सम्मान दें और घरेलू कानून का उस अनुसार अर्थ लगावें विशेषकर जहाँ घरेलू कानून और अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के बीच कोई असंगतता न हो और वेघरेलू कानून के प्रकाश में शून्य न हो।

National Legal Services Authority v. Union of India and others

Judgment dated 15.04.2014 passed by the Supreme Court in Writ Petition (C) No.400 of 2012, reported in (2014) 5 SCC 438

•

**239. CRIMINAL PROCEDURE CODE, 1973 – Sections 41, 41-A, 57 and 167
CONSTITUTION OF INDIA – Article 22(2)**

- (i) Arrest brings humiliation, curtails freedom and casts scars forever – Power to arrest – Need not to be exercised because the offence is non-bailable and therefore, lawful for the police officers to do so – A balance between individual liberty and societal order is required to be struck while exercising power of arrest – No arrest should be made without reaching a reasonable satisfaction after some investigation as to the genuineness of the allegation.
- (ii) How to exercise the power of arrest?
Firstly, before arrest, the police officers should have reason to believe on the basis of information and material that the accused had committed the offence – Secondly, the arrest is necessary for one or more purposes envisaged by the sub-clauses (a) to (e) of clause (1) of Section 41 of Cr.P.C. – All police officers be provided with a check list containing specified sub-clauses under section 41(1) (b)(ii) – The police officer shall forward the check list duly filled and furnish the reasons and materials which necessitated the arrest, while forwarding/producing the accused before the Magistrate for further detention – Recording of reasons is compulsory for making arrest as well as for not making an arrest in respect of cognizable offence for which the maximum sentence is upto seven years.
- (iii) Scope of judicial scrutiny and duty of Magistrate in exercise of power under section 167 Cr.P.C.?
When a suspect is arrested and produced before a Magistrate for authorising detention, the Magistrate has to address the question whether specific reasons have been recorded for arrest and if so, *prima facie* those reasons are relevant and secondly a reasonable conclusion could at all be reached by the police officer that one or the other conditions stated above are attracted.
Magistrate has to first satisfy that the arrest made is legal and in accordance with law and all constitutional rights of the person accused is satisfied – If the arrest effected by the police officer does not satisfy the requirements of section 41 of the Code, Magistrate is duty bound not to authorise his further detention but to release the accused.
- (iv) Procedure where the arrest of a person is not required under section 41 (1) Cr.P.C.? The police officer is required to issue notice directing the accused to appear before him at a specified place and time – If such an accused complies with the terms of

notice he shall not be arrested, unless for reasons to be recorded, the police officer is of the opinion that the arrest is necessary – At this stage also, the conditions precedent for arrest as envisaged under section 41 Cr.P. C. have to be complied with and shall be subject to the scrutiny by the Magistrate.

- (v) Liability of the concerned police officers making arrest without satisfying about the necessity for arrest under the parameters flowing from section 41 Cr.P.C.?

Apart from rendering the police officers concerned liable for departmental action, they shall also be liable to be punished for contempt of court to be instituted before High Court having territorial jurisdiction.

- (vi) Liability of Magistrate authorising detention without recording its satisfaction about the condition precedent for arrest under section 41 Cr.P.C.?

Magistrate concerned shall be liable for departmental action by the appropriate High Court.

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 14, 14-ए, 57 और 167

भारत का संविधान – अनुच्छेद 22 (2)

- (i) गिरफ्तारी मान भंग, उत्पन्न करती है, स्वतंत्रता बाधित करती है और हमेशा के लिए दाग या धब्बे लगा देती है – गिरफ्तारी की शक्तियां केवल इसलिए प्रयोग नहीं करना चाहिए कि अपराध अजमानतीय है इस कारण पुलिस अधिकारी के लिए यह विधि सम्मत है – व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक व्यवस्था के बीच एक संतुलन आवश्यक है जब गिरफ्तार की शक्तियों का प्रयोग किया जायेगा – कुछ अनुसंधान करने के बाद लगाये गये अभियोग यथार्थ है ऐसे युक्तियुक्त निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले गिरफ्तारी नहीं की जाना चाहिए।
- (ii) गिरफ्तारी की शक्तियों का प्रयोग कैसे किया जाये ? प्रथमतः पुलिस अधिकारी को गिरफ्तार के पूर्व यह विश्वास करने के कारण होना चाहिए कि जो सूचना और सामग्री है उनके आधार पर अभियुक्त ने अपराध किया है ऐसे विश्वास करने के कारण है दूसरा धारा 41 (1) (ए) से (ई) दण्ड प्रक्रिया संहिता में बतलाये कारण से गिरफ्तारी आवश्यक है – सभी पुलिस अधिकारीगण को धारा 41 (1) (बी) (II) दण्ड प्रक्रिया संहिता में लिखित तथ्यों के बारे में एक चैक लिस्ट रखना है – पुलिस अधिकारी अभियुक्त को मजिस्ट्रेट के सामने आगामी निरोध के लिए भेजते समय या प्रस्तुत करते समय उक्त चैक लिस्ट भेजेंगे और गिरफ्तार के कारण और आवश्यकता भी लिखेंगे – किसी संज्ञेय अपराध में जो कि 7 वर्ष तक के कारावास से दण्डनीय हो उसमें गिरफ्तारी के कारण अभिलिखित करना आवश्यक है।
- (iii) न्यायिक समीक्षा का विस्तार और धारा 167 दण्ड प्रक्रिया संहिता के तहत शक्तियों का प्रयोग करते समय मजिस्ट्रेट के कर्तव्य ?

जब एक संदेही गिरफ्तार करके मजिस्ट्रेट के सामने निरोध प्राधिकृत करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है तब मजिस्ट्रेट को इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि गिरफ्तारी के विशिष्ट कारण अभिलिखित किये गये हैं, प्रथम दृष्टया वे कारण सुसंगत है और पुलिस अधिकारी ने ऊपर लिखी शर्तों के बारे में युक्तियुक्त निष्कर्ष निकाला है।

मजिस्ट्रेट को सर्वप्रथम यह संतोष करना चाहिए कि गिरफ्तारी विधिक और विधान अनुसार है अभियुक्त के सभी संवैधानिक अधिकारों को तुष्ट किया गया है। यदि पुलिस अधिकारी ने धारा 41 दण्ड प्रक्रिया संहिता की आवश्यकताओं के बिना अभियुक्त को गिरफ्तार किया है तब मजिस्ट्रेट इस बात के लिए बाध्य है कि वह अभियुक्त का निरोध प्राधिकृत न करे और उसको रिहा कर दे।

- (iv) प्रक्रिया जहाँ 41 (1) दण्ड प्रक्रिया संहिता के तहत किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी न हो ? पुलिस अधिकारी को अभियुक्त के नाम एक सूचनापत्र जारी करना होगा जिसमें उसे विशिष्ट समय और स्थान पर उपस्थित होने के निर्देश हो यदि अभियुक्त ने ऐसी शर्तों का पालन कर दिया है तो उसे गिरफ्तार नहीं किया जायेगा जब तक कि पुलिस अधिकारी ने ऐसे विश्वास के आधार अभिलिखित किया है कि गिरफ्तारी आवश्यक है इस दशा में भी धारा 41 दण्ड प्रक्रिया संहिता का अनुपालन और उसमें बतलाये गए गिरफ्तारी की दशाओं और शर्तों का पालन आवश्यक है और मजिस्ट्रेट इसकी भी छानबीन कर सकता है।
- (v) पुलिस अधिकारी जो धारा 41 दण्ड प्रक्रिया संहिता की शर्तों और गिरफ्तार की आवश्यकता के बिना गिरफ्तारी करता है उसका दायित्व ? ऐसा पुलिस अधिकारी विभागीय जांच का उत्तरदायित्व होता है और प्रादेशिक क्षेत्राधिकार रखने वाले उच्च न्यायालय द्वारा न्यायालय अवमानना के लिए भी दण्ड का दायी होता है।
- (vi) मजिस्ट्रेट का दायित्व जो धारा 41 दण्ड प्रक्रिया संहिता में वर्णित दशाओं के बारे में संतुष्टिकरण अभिलिखित किये बिना निरोध प्राधिकृत करता है? संबंधित मजिस्ट्रेट समुचित उच्च न्यायालय द्वारा विभागीय जांच का उत्तरदायित्व होता है।

Arnesh Kumar v. State of Bihar and anr.

Judgment dated 02.07.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 1277 of 2014, reported in 2014 (3) Crimes 40 (SC)

Extracts from the judgment:

We believe that no arrest should be made only because the offence is non-bailable and cognizable and therefore, lawful for the police officers to do so.

The existence of the power to arrest is one thing, the justification for the exercise of it is quite another. Apart from power to arrest, the police officers must be able to justify the reasons thereof. No arrest can be made in a routine manner on a mere allegation of commission of an offence made against a

person. It would be prudent and wise for a police officer that no arrest is made without a reasonable satisfaction reached after some investigation as to the genuineness of the allegation.

What purpose it will serve? What object it will achieve? It is only after these questions are addressed and one or the other conditions as enumerated above is satisfied, the power of arrest needs to be exercised. In fine, before arrest first the police officers should have reason to believe on the basis of information and material that the accused has committed the offence. Apart from this, the police officer has to be satisfied further that the arrest is necessary for one or the more purposes envisaged by sub-clauses (a) to (e) of clauses (1) of Section 41 of Cr.P.C. An accused arrested without warrant by the police has the constitution right under Article 22(2) of the Constitution of India and Section 57, Cr.P.C. to be produced before the Magistrate without unnecessary delay and in no circumstances beyond 24 hours excluding the time necessary for the journey.

During the course of investigation of a case an accused can be kept in detention beyond a period of 24 hours only when it is authorised by the Magistrate in exercise of power of under Section 167 Cr.PC. The power to authorise detention is a very solemn function. It affects the liberty and freedom of citizens and needs to be exercised with great care and caution. One experience tells us that it is not exercised with the seriousness it deserves. In many of the cases, detention is authorised in a routine, casual and cavalier manner. Before a Magistrate authorises detention under Section 167 Cr.PC, he has to be first satisfied that the arrest made is legal and in accordance with law and all the constitutional rights of the person arrested is satisfied.

If the arrest effected by the police officer does not satisfy the requirements of Section 41 of the Code, Magistrate is duty bound not to authorise his further detention and release the accused. In other words, when an accused is produced before the Magistrate, the police officer effecting the arrest is required to furnish to the Magistrate, the facts, reasons and its conclusions for arrest and the Magistrate in turn is to be satisfied that condition precedent for arrest under Section 41 Cr.PC. has been satisfied and it is only thereafter that he will authorise the detention of an accused. The Magistrate before authorising detention will record its own satisfaction may be in brief but the said satisfaction must reflect from its order.

It shall never be based upon the ipse dixit of the police officer, for example, in case the police officer considers the arrest necessary to prevent such person from committing any further offence or for proper investigation of the case or for preventing an accused from tampering with evidence or making inducement etc., the police officer shall furnish to the Magistrate the facts, the reasons and materials on the basis of which the police officer had reached its conclusion.

Those shall be perused by the Magistrate while authorising the detention and only after recording its satisfaction in writing that the Magistrate will authorise the

detention of the accused. In fine, when a suspect is arrested and produced before a Magistrate for authorising detention, the Magistrate has to address the question whether specific reasons have been recorded for arrest and if so, prima facie those reasons are relevant and secondly a reasonable conclusion could at all be reached by the police officer that one or the other conditions stated above are attracted. To this limited extent the Magistrate will make judicial scrutiny. Another provision i.e. Section 41A Cr.PC aimed to avoid unnecessary arrest or threat of arrest looming large on accused requires to be vitalised. Section 41A as inserted by Section 6 of the Code of Criminal Procedure (Amendment) Act, 2008 (Act 5 of 2009), which is relevant in the context reads as follows:

“41.A Notice of appearance before police officer.-

- (1) The police officer shall, in all cases where the arrest of a person is not required under the provisions of sub-section (1) of Section 41, issue a notice directing the person against whom a reasonable complaint has been made, or credible information has been received, or a reasonable suspicion exists that he has committed a cognizable offence, to appear before him or at such other place as may be specified in the notice.
- (2) Where such a notice is issued to any person, it shall be the duty of that person to comply with the terms of the notice.
- (3) Where such person complies and continues to comply with the notice, he shall not be arrested in respect of the offence referred to in the notice unless, for reasons to be recorded, the police officer is of the opinion that he ought to be arrested.
- (4) Where such person, at any time, fails to comply with the terms of the notice or is unwilling to identify himself, the police officer may, subject to such orders as may have been passed by a competent Court in this behalf, arrest him for the offence mentioned in the notice.”

Aforesaid provision makes it clear that in all cases where the arrest of a person is not required under Section 41(1), Cr.PC, the police officer is required to issue notice directing the accused to appear before him at a specified place and time. Law obliges such an accused to appear before the police officer and it further mandates that if such an accused complies with the terms of notice he shall not be arrested, unless for reasons to be recorded, the police officer is of the opinion that the arrest is necessary. At this stage also, the condition precedent for arrest as envisaged under Section 41 Cr.PC has to be complied and shall be subject to the same scrutiny by the Magistrate as aforesaid.

In order to ensure what we have observed above, we give the following direction: All the State Governments to instruct its police officers not to automatically arrest when a case under Section 498-A of the IPC is registered but to satisfy themselves about the necessity for arrest under the parameters laid down above flowing from Section 41, Cr.PC; All police officers be

with a check list containing specified sub-clauses under Section 41(1) (b)(ii); The police officer shall forward the check list duly filed and furnish the reasons and materials which necessitated the arrest, while forwarding/producing the accused before the Magistrate for further detention.

The Magistrate while authorising detention of the accused shall peruse the report furnished by the police officer in terms aforesaid and only after recording its satisfaction, the Magistrate will authorise detention; The decision not to arrest an accused, be forwarded to the Magistrate within two weeks from the date of the institution of the case with a copy to the Magistrate which may be extended by the Superintendent of police of the district for the reasons to be recorded in writing; Notice of appearance in terms of Section 41A of Cr.PC be served on the accused within two weeks from the date of institution of the case, which may be extended by the Superintendent of Police of the District for the reasons to be recorded in writing.

Failure to comply with the directions aforesaid shall apart from rendering the police office concerned liable for departmental action, they shall also be liable to be punished for contempt of court to be instituted before High Court having territorial jurisdiction.

Authorising detention without recording reasons as aforesaid by the Judicial Magistrate concerned shall be liable for departmental action by the appropriate High Court.

We hasten to add that the directions aforesaid shall not only apply to the cases under Section 498-A of the I.P.C. or Section 4 of the Dowry Prohibition Act, the case in hand, but also such cases where offence is punishable with imprisonment for a term which may be less than seven years or which may extend to seven years; whether with or without fine.

•

***240. CRIMINAL PROCEDURE CODE, 1973 – Section 125**

Maintenance – Husband, liability of – If the husband is healthy and able-bodied person, he cannot escape from his liability to pay maintenance to his wife and children – He is bound to earn and pay.

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 125

भरण-पोषण – पति का दायित्व – यदि पति स्वस्थ और योग्य शरीर वाला व्यक्ति है तो वह उसकी पत्नी और बच्चों के भरण-पोषण के दायित्व से नहीं बच सकता – वह कमाने और भुगतान करने के लिए बाध्य है।

Shila Bai (Smt.) and anr. v. Ashok Kumar Patel

Order dated 31.01.2013 passed by the High Court of M.P. in Criminal Revision No. 1514 of 2012, reported in ILR (2014) MP 832

•

241. CRIMINAL PROCEDURE CODE, 1973 – Sections 240 and 482

INDIAN PENAL CODE, 1860 – Section 420

PREVENTION OF CORRUPTION ACT, 1988 – Sections 13 (1) (d) and 13 (2)
Framing of charge – Appreciation of evidence, non-requirement of – At the time of framing of charge, Court is required to evaluate the material produced before it – But appreciation of evidence is not required at that time.

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 240, 482

भारतीय दण्ड संहिता, 1860 – धारा 420

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 – धारा 13 (1) (क) और 13 (2)

आरोप की रचना – साक्ष्य का मूल्यांकन आवश्यक नहीं होता है – आरोप की रचना के समय न्यायालय के लिए आवश्यक होता है कि वह उसके समक्ष प्रस्तुत सामग्री का मूल्यांकन करें – किन्तु उस समय साक्ष्य का मूल्यांकन आवश्यक नहीं होता है।

Ashok Sharma (Dr.) v. State of M.P.

Order dated 18.12.2013 passed by the High Court of M.P. in Criminal Revision No. 1314 of 2013, reported in 2014 (II) MPJR 124 (DB)

Extracts from the Order:

It is true that at the time of framing of charge, the court has not required to appreciate the evidence to conclude whether the material produced before the court are sufficient or not for convicting the accused. There is difference between the evaluation of materials produced before the court and appreciation of evidence produced before the court at the time of framing of the charge. For evaluation, the court is allowed to look into the material only prima facie be satisfied about the existence of sufficient ground for proceeding against the accused.

•

242. CRIMINAL PROCEDURE CODE, 1973 – Section 362

If the order or judgment of acquittal has been dictated in open court, but not signed by the Judge – He can recall or review such order or judgment.

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 362

यदि दोषमुक्ति का आदेश या निर्णय खुले न्यायालय में श्रुतलेखित या डिक्टेड करवाया जा चुका हो लेकिन उस पर न्यायाधीश के हस्ताक्षर नहीं हुए। न्यायाधीश ऐसे आदेश या निर्णय का पुनरावलोकन कर सकते हैं।

Kushalbai Ratanbhai Rohit & others v. State of Gujarat

Order dated 06.05.2014 passed by the Supreme Court in S.L.P.(Cri) No. 453 of 2014, reported in AIR 2014 SC 2291

Extracts from the Order:

We do not find any forcible submission advanced on behalf of the petitioners

that once the order had been dictated in open court, the order to review or recall is not permissible in view of the provisions of Section 362, Cr.P.C. for the simple reason that Section 362, Cr.P.C. puts an embargo to call, recall or review any judgment or order passed in criminal case once it has been pronounced and signed. In the instant case, admittedly, the order was dictated in the court, but had not been signed.

•
243. ELECTRICITY ACT, 2003 – Sections 135 and 154

Dismissal of complaint in respect of theft of electricity and non-determination of civil liability – Effect on enforcement of provisional order – Held, since complaint in respect of theft is dismissed by the Court on the ground of being frivolous and civil liability is not determined by the Court, therefore, provisional assessment of the Vidhyut Vitran Company is not enforceable.

विद्युत अधिनियम, 2003 – धारा 135 और 154

विद्युत चोरी संबंधी परिवाद का खारिज किया जाना और सिविल दायित्व का निर्धारित नहीं किया जाना – प्रावधिक निर्धारण आदेश के प्रवर्तन पर प्रभाव – अभिनिर्धारित किया गया – न्यायालय द्वारा विद्युत चोरी संबंधी परिवाद असत्य होने के आधार पर खारिज की गयी और सिविल दायित्व को निर्धारित नहीं किया गया इस कारण विद्युत विभाग द्वारा किया गया प्रावधिक निर्धारण आदेश प्रवर्तन योग्य नहीं है।

Smt. Baijanti Bai v. M.P. Kshetriya Vidhyut Vitran Company and others

Order dated 24.06.2014 passed by the High Court of M.P. in Writ Petition No. 2984 of 2014, reported in 2014 (3) MPHT 458

Extracts from the Order:

Sub-section (5) of section 154 of the Electricity Act makes it clear that it is obligatory and mandatory on the part of Special Court to determine the civil liability. It is noteworthy that by Act 26 of 2007 (w.e.f. 15.6.2007) Legislature has substituted the words “Special Court may” and in lieu thereof inserted the words “Special Court shall”. Thus, intention of the Legislature is clear that Special Courts are bound and under a statutory and mandatory duty to determine the civil liability against the consumer. Special Court in the present case conducted a full-fledged trial and exonerated the petitioner. It has not determined the civil liability against the petitioner. Civil liability needs to be determined by Special Court as per Section 154 of the Act. If it has failed to do so, it cannot be permitted to be determined in any other manner and therefore, provisional assessment cannot be pressed into service after delivering the judgment by the Special Court. This is settled in law that if something is required to be done in a particular manner pursuant to a legal provision, it has to be done in the same manner or not at all [see : **Shri Baru Ram v. Smt. Prasanni and others, AIR 1959 SC 93, Commissioner of Income Tax, Mumbai v. Anjum M.H. Ghaswala and others, (2012)**

1 SCC 633, Satyanjay Tripathi and another v. Banarasi Devi, 2011 (3) M.P.H.T. 28 = 2011 (2) MPLJ 690].

At the cost of repetition, in the opinion of this Court, in the present case, the petitioner was subjected to full-fledged trial before the Special Court.

The Special Court has not come to the conclusion that petitioner has committed any offence or caused any loss or damage to the Board. In absence of any "civil liability" determined by the Court, Annexure P-4 cannot be enforced.

•

**244. EVIDENCE ACT, 1872 – Sections 3, 27 and 45
CRIMINAL PROCEDURE CODE, 1973 – Section 154**

- (i) **Delay in lodging F.I.R. – How to consider? Daughter of informant, aged 18 years found dead in the agricultural field – Written report was submitted within 2 hours – Looking to the gravity of the offence and shock of the family member of the deceased, it cannot be said that there is delay in lodging F.I.R.**
- (ii) **Appreciation of evidence – Interested witness – A witness is the father of the deceased and has also no enmity with accused – His evidence cannot be doubted on that count.**
- (iii) **Services of a sniffer dog was taken by I.O. – The said dog traced the accused – Stained clothes and sickle have been recovered from accused in his instance – Motive also proved – Offence, held proved.**

साक्ष्य अधिनियम, 1972 – धारा 3, 45 और 27

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 154

- (i) **प्रथम सूचना प्रतिवेदन दर्ज करवाने में विलंब – कैसे विचार में लिया जाये – सूचनाकर्ता की पुत्री उम्र 18 वर्ष खेत में मृत पायी गयी – दो घंटे के भीतर लिखित रिपोर्ट कर दी गयी – अपराध की गंभीरता और मृतक के परिवार के सदस्यों को लगे सदमे या आघात को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि प्रथम सूचना दर्ज करवाने में विलंब हुआ।**
- (ii) **साक्ष्य का मूल्यांकन – हितबद्ध साक्षी – गवाह जो मृतक के पिता है जिसकी अभियुक्त से कोई दुश्मनी नहीं है उसकी साक्ष्य पर केवल मृतक के पिता होने के आधार पर संदेह नहीं किया जा सकता।**
- (iii) **अन्वेषण अधिकारी ने सूंघकर पहचानने वाले कुत्ते की सेवायें ली, सूंघकर पहचानने वाले कुत्ते ने अभियुक्त को खोजा, खून सने कपड़े और सिकेल, अभियुक्त से उसकी निशानदेही से जप्त हुई, हेतु भी प्रमाणित हुआ। अपराध प्रमाणित पाया गया।**

Lalit Kumar Yadav @ Kuri v. State of U.P.

Judgment dated 25.04.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 1022 of 2006, reported in 2014 Cri.L.J 2712 (SC)

Extracts from the judgment:

A perusal of the said report would reveal that the informant (PW-1) mainly disclosed in it that his daughter Km. 'x' aged about 18 years had gone in search of her parents, was found dead in the agricultural field of Vishwanath on 23rd February, 2004. It was also added that some person incised her neck. A prayer for necessary action was pressed into service. The occurrence came to the notice of informant PW-1 after 4.00 p.m. and the written report was submitted at 6.10 p.m. on the same day at Satrikh Police Station, about 7 kms. from the village. Looking to the gravity of the offence and shock of the family members of the deceased, it cannot be said that there is delay in reporting the matter to the Police.

The second submission of the appellant is that Ram Chandra Chaurasiya (PW-1) is highly interested witness and his statement is not corroborated by any other witness though available.

Ram Chandra Chaurasiya (PW-1) disclosed that a few days before the date of occurrence, accused teased his daughter and also threatened her. Her daughter Km. 'x' explained about the accused misconduct to her cousin Ashok Kumar. Later, on having received the complaint about the indecent behaviour of the accused, he scolded him. Unfortunately, Ashok Kumar died subsequently but the evidence of the victim's father is quite convincing and worth to believe. In fact in FIR he has not named the accused. Merely because PW-1 is the father of the deceased victim girl, his evidence cannot be doubted on the count in absence of any suspicion.

In the present case, the services of a sniffer dog was taken for investigation. The said dog traced the accused and he was formally arrested in the evening of the next day. The Investigating Officer, Ashok Kumar Yadav (PW-10) corroborated the evidence of Abdul Lais Khan (PW- 4) to the effect that 'Raja' sniffer dog after picking up scent from the place of occurrence tracked down the house of the accused. What is relevant to note is that the accused has not been convicted on the ground that the sniffer dog tracked down the house of the accused and barked at him. The evidence of dog tracking only shows how the accused was arrested. The Trial Court and the Appellant Court noticed the motive of the accused. Ram Chandra Chaurasiya (PW-1) disclosed in his evidence that a few days before the date of occurrence, the accused has teased his daughter and also threatened her. Her daughter Km. 'x' complained about the misconduct of the accused to her cousin Ashok Kumar and the latter admonished the accused for the same. Ashok Kumar died subsequently but the evidence of the girl's father is quite convincing and worthy of credit. The aforesaid incident clearly reflects upon the motive of the accused.

The prosecution has brought on record evidence as to string of her trouser was found untied and the trouser had been taken down. She was lying naked when found dead. The scene at the site of occurrence indicates that the trouser of the deceased had been taken down with a view to outrage her modesty. A portion of her dupatta were found thrust in her mouth so as to gag her. The other part of the dupatta was found in the incised wound on the neck so as to

soak blood. The pair of the chappals of the deceased was lying at a distance. The wheat plants were noticed to be trampled which indicates violence and a scuffle between the victim and the assailant. The episode of eve teasing of the girl indicates that the accused wanted sex with her and it was in this background that he made a forcible attempt to rape her. It appears that the girl was bold and brave and she resisted the accused forceful attempt which enraged and provoked the accused to eventually commit the heinous act. Since there is no direct evidence to prove the guilt of the accused the Trial Court and the Appellate Court considered the circumstances which led towards the accused. Admittedly, nobody was named in the FIR but referring to the incident that Km. 'x' was murdered the FIR was lodged. Since nobody was named in the FIR the Investigating Officer took the help of the dog squad and the dog handler Abdul Lais Khan (PW-4) came with the dog. Dog tracking proceeding was done and the dog tracked the accused. The said fact is not disputed. The accused who was then taken into custody gave statement regarding commission of crime. Though the statement is not admissible, at his instance the sickle as well as blood stained cloths were recovered. The report proved that the sickle was blood stained. The Doctor has given statement that the injury caused upon the victim could have been caused by the weapon so recovered which establish that the said weapon was used in committing the murder. Ram Chandra Chaurasiya (PW-1) father of the victim had given statement that earlier also the accused eve-teased his daughter Km. 'x' for which his nephew Ashok Kumar scolded accused. Ram Prakash (PW-3) although turned hostile had made statement that accused had confessed to him that since the girl has refused sexual relationship with him he had murdered her. Though such statement cannot be relied upon independently to hold the accused guilty, other chain of evidence reaches to only one conclusion i.e. against the accused. Recovery of handkerchief from the place of murder with the mark of "Heat" and inscription of the words "I Love You", established that some person were closed to her. The position of her cloth of the lower body "salwar" establish that the person tried to have sex with the girl and the injuries on the fingers of the girl also established that she protested somehow these circumstances also lead to the conclusion that the person who could not succeed in outrage the modesty of the girl, murdered her. There is no other evidence contrary to it. Further, there is no evidence to suggest that the father of the deceased had any enmity or grudge with anyone who may be suspected to have committed the murder. All these circumstances proved that it is nobody else but the accused who attempted to commit rape and murdered the deceased Km. 'x'.

•

245. EVIDENCE ACT, 1872 – Section 32 (1)

Dying declaration was recored in the presence of doctor – Non-examination of that doctor – Whether adversely affect the evidential value of the D.D.? Held, No.

साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 32 (1)

मृत्यु कालीन कथन डॉक्टर की उपस्थिति में अभिलिखित किया गया था – डॉक्टर का परीक्षण न करवाया जाना – क्या मृत्यु कालीन कथन के साक्ष्यिक मूल्य को विपरीत रूप से प्रभावित करेगा ? अभिनिर्धारित किया गया, नहीं।

Amar Singh Yadav v. State of U.P.

Judgment dated 01.07.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 967 of 2010, reported in AIR 2014 SC 2486

Extracts from the judgment:

The facts brought out in the dying declarations of Urmila, Ext. Ka-18; Pooja, Ext.Ka-17 and Mamta, Ka-15 has corroborated the statements of injured eye-witnesses, Sudha (PW-5) and Pankaj Singh (PW-6). There is no room but to suggest that the accused caused the death of the deceased. The dying declarations clearly implicate the accused. There are no suspicious features which affect the credibility of the dying declarations particularly the deceased being related to the accused. There is no apparent reason as to why the deceased Urmila (wife), Mamta (daughter), Pooja (daughter) were connecting their husband/father with the murderous attack. Mere fact that Doctor in whose presence the dying declaration was recorded and/or who endorsed it, is not examined, does not affect the evidentiary value of the dying declaration. The evidence of Uma Shankar Yadav, Inspector (PW-4) is also corroborated by the evidence of eye-witnesses Sudha (PW-5) and Pankaj (PW-6). There is no discrepancy in the statements of the eye-witnesses to disbelieve them. The Trial Court rightly convicted the appellant for the offence under Sections 302, 307 and 436 IPC as affirmed by the High Court.

•

246. EVIDENCE ACT, 1872 – Section 32 (1)

Legal position relating to dying declaration explained – It is based on the maxim “*nemo moriturus praesumitur mentire,*” means “no one at the time of death is presumed to lie and he will not meet his maker with a lie in his mouth” – It is an exception to the general rule that hearsay evidence is not admissible in evidence – D.D. does not require corroboration, if it inspires confidence in the mind of the court – It is necessary that D.D. must be free from any form of tutoring.

साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 32 (1)

मृत्यु कालीन कथन के संबंध में विधिक स्थिति – यह इस मैक्सिम पर आधारित “नेमी मॉरटिरस प्रेसीमीट्व मेनटायर” अर्थात् “कोई भी व्यक्ति मृत्यु के समय झूठ नहीं बोलता ऐसी उपधारणा है और वह अपने आपको बनाने वाले (अर्थात् भगवान) के सामने झूठा मुंह लेकर नहीं जाना चाहता। यह इस सामान्य नियम का अपवाद है कि अनुश्रुत साक्ष्य ग्राह्य नहीं होती है मृत्यु कालीन कथन की पुष्टि आवश्यक नहीं होती है, यदि वह न्यायालय के मस्तिष्क में विश्वास उत्पन्न करता है। यह आवश्यक है कि मृत्यु कालीन कथन किसी भी प्रकार के सिखाये जाने का परिणाम नहीं होना चाहिए।

Umakant and another v. State of Chhattisgarh
Judgment dated 01.07.2014 passed by the Supreme Court in Criminal
Appeal No. 1424 of 2012, reported in (2014) 7 SCC 405

Extracts from the judgment:

The philosophy of law which signifies the importance of a dying declaration is based on the maxim *nemo moriturus praesumitur mentire*, which means, “no one at the time of death is presumed to lie and he will not meet his Maker with a lie in his mouth”. Though a dying declaration is not recorded in the court in the presence of the accused nor is it put to strict proof of cross-examination by the accused, still it is admitted in evidence against the general rule that hearsay evidence is not admissible in evidence. The dying declaration does not even require any corroboration as long as it inspires confidence in the mind of the court and that it is free from any form of tutoring. At the same time, dying declaration has to be judged and appreciated in the light of surrounding circumstances. The whole point in giving lot of credence and importance to the piece of dying declaration, deviating from the rule of evidence is that such declaration is made by the victim when he/she is on verge of death.

In spite of all the importance attached and the sanctity given to the piece of dying declaration, the courts have to be very careful while analyzing the truthfulness, genuineness of the dying declaration and should come to a proper conclusion that the dying declaration is not a product of prompting or tutoring.

The legal position about the admissibility of a dying declaration is settled by this Court in several judgments. This Court in ***Atbir v. Govt. (NCT of Delhi) (2010) 9 SCC 1***, taking into consideration the earlier judgments of this Court in ***Paniben v. State of Gujarat (1992) 2 SCC 474***, and another judgment of this Court in ***Panneerselvam v. State of T.N. (2008) 17 SCC 190***, has given certain guidelines while considering a dying declaration: (***Atbir case*** (supra) **SCC pp. 8-9, para 22**)

- “(i) Dying declaration can be the sole basis of conviction if it inspires the full confidence of the court.
- (ii) The court should be satisfied that the deceased was in a fit state of mind at the time of making the statement and that it was not the result of tutoring, prompting or imagination.
- (iii) Where the court is satisfied that the declaration is true and voluntary, it can base its conviction without any further corroboration.
- (iv) It cannot be laid down as an absolute rule of law that the dying declaration cannot form the sole basis of conviction unless it is corroborated. The rule requiring corroboration is merely a rule of prudence.
- (v) Where the dying declaration is suspicious, it should not be acted upon without corroborative evidence.

- (vi) A dying declaration which suffers from infirmity, such as the deceased was unconscious and could never make any statement cannot form the basis of conviction.
- (vii) Merely because a dying declaration does not contain all the details as to the occurrence, it is not to be rejected.
- (viii) Even if it is a brief statement, it is not to be discarded.
- (ix) When the eyewitness affirms that the deceased was not in a fit and conscious state to make the dying declaration, medical opinion cannot prevail.
- (x) If after careful scrutiny, the court is satisfied that it is true and free from any effort to induce the deceased to make a false statement and if it is coherent and consistent, there shall be no legal impediment to make it the basis of conviction, even if there is no corroboration.”

•

***247. EVIDENCE ACT, 1872 – Sections 67 and 68**

SUCCESSION ACT, 1925 – Sections 74 and 119

- (i) **Document required to be attested, mode of proof – For proof of a document required by law to be attested, one attesting witness at least must be called for the purpose of proving its execution, if there being an attesting witness alive and subject to the process of the Court and capable of giving evidence.**
- (ii) **Will, proof of – Law explained – Original Will not produced in evidence and no explanation was given in this regard – Name of the typist and draftsman not mentioned – The place of signature of testator was left out blank – Name of one of the attesting witnesses was not typed but it was handwritten – Statement of typist who typed the Will and one of the attesting witnesses whose name was typed in the Will were not examined – Second attesting witness whose name was handwritten deposed that he was neither aware of the property which is the subject-matter of the Will nor the typist as well as the place where the Will was typed – Held, the aforesaid circumstances reveal that probably the second attesting witness was not present at the time of execution of the Will and his signature was obtained subsequently to show him as an attesting witness of the Will – Hence, the Will cannot be said to be proved.**

साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 67 और 68

उत्तराधिकारी अधिनियम, 1925 – धारा 74 और 119

- (i) दस्तावेज जिसका अनुप्रमाणित होना आवश्यक हो उसको प्रमाणित करने का तरीका – ऐसे दस्तावेज जो विधि अनुसार अनुप्रमाणित होना आवश्यक हो उसको प्रमाणित के लिए, कम से कम एक अनुप्रमाणक साक्षी को निष्पादन प्रमाणित करने के लिए बुलवाना चाहिए, यदि अनुप्रमाणक साक्षी जीवित हो और न्यायालय की आदेशिका के अधीन हो तथा साक्ष्य देने में सक्षम हो (तो उसे निष्पादन प्रमाणित करने के लिए साक्ष्य में बुलाना चाहिए)
- (ii) विल, प्रमाणित करना – विधि स्पष्ट की गयी – मूल विल साक्ष्य में प्रस्तुत नहीं की गयी और इस बाबत कोई स्पष्टीकरण भी नहीं दिया गया था – विल टंकित करने वाले का नाम और उसे प्रारूपित करने वाले का नाम का उल्लेख नहीं किया गया था – और वसीयत कर्ता के हस्ताक्षर का स्थान खाली छूटा हुआ था – एक अनुप्रमाणक साक्षी का नाम टंकित नहीं किया गया था बल्कि हाथ से लिखा गया था – टाइपिस्ट और एक अनुप्रमाणक साक्षी जिसका नाम टाइप किया था उनके कथन नहीं करवाये गये – दूसरा अनुप्रमाणक साक्षी जिसका नाम हाथ से लिखा हुआ था उसने अपने कथन में बतलाया कि वह विल में उल्लेखित सम्पत्ति से परिचित नहीं है और न टाइपिस्ट से परिचित है तथा विल कहीं टाइप की गयी यह भी उसे पता नहीं – अभिनिर्धारित किया गया कि उक्त परिस्थितियों से यह अधिसंभाव्य है कि दूसरा अनुप्रमाणक साक्षी विल के निष्पादन के समय उपस्थित नहीं था और विल पर उसके हस्ताक्षर अनुप्रमाणक साक्षी के रूप में बाद में प्राप्त किये गये – विल प्रमाणित होना नहीं कहा जा सकता।

Pradumn Singh & ors. v. Shiv Raj Singh & ors.

Judgment dated 26.07.2013 passed by the High Court in First Appeal No. 286 of 2003, reported in ILR (2014) MP 424

•

248. EVIDENCE ACT, 1872 – Sections 138 and 146

CRIMINAL TRIAL : Theory of Last Seen

- (i) **If the question is not put to a witness in cross-examination, who could furnish explanation on a particular point, the correctness or legality of the said point could not be raised – AIR 2013 SC 1204, relied on.**
- (ii) **The last seen theory comes into play only in a case where the time-gap between the point of time when the accused and the deceased were seen alive and when the deceased found dead is small – Where the gap is very small there may not be any possibility that any person other than the accused may be the author of the crime – In this case time-gap was one week.**

साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 138 और 146

दाण्डिक विचारण – अंतिम बार साथ देखे जाने का सिद्धांत

- (i) यदि प्रश्न प्रतिपरीक्षण में उस गवाह से नहीं पूछा गया जो किसी विशिष्ट बिन्दु पर स्पष्टीकरण दे सकता था, उस बिन्दु के सही होने या वैधानिकता को नहीं उठाया जा सकता। ए.आई.आर. 2013 एस.सी. 1204 पर भरोसा किया गया।
- (ii) अंतिम बार साथ देखे जाने का सिद्धांत लागू तभी होता है जब अभियुक्त और मृतक को अंतिम बार साथ देखे जाने और मृतक की मृत्यु के बीच का समय अन्तर कम हो। जहाँ समय का यह अन्तर बहुत कम होता है वहाँ इस बात की संभावना नहीं हो सकती है कि अपराध का कर्ता अभियुक्त के अलावा कोई अन्य व्यक्ति है। इस मामले में समय का अन्तर एक सप्ताह था।

Mahavir Singh v. State of Haryana

Judgment dated 23.05.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 2231 of 2010, reported in (2014) 6 SCC 716

Extracts from the judgment:

Undoubtedly, it is a settled legal proposition that the last seen theory comes into play only in a case where the time-gap between the point of time when the accused and the deceased were seen alive and when the deceased was found dead (sic is small). Since the gap is very small there may not be any possibility that any person other than the accused may be the author of the crime. In the instant case, if we examine the medical report minutely, it becomes evident that the deceased Suraj Mal had been murdered one week prior to the post-mortem. Thus, it becomes evident that he had been killed in a very proximity of time when the deceased was seen alive with the appellant and Jagbir Singh co-accused.

It is a settled legal proposition that in case the question is not put to the witness in cross-examination who could furnish explanation on a particular issue, the correctness or legality of the said fact/issue could not be raised. (Vide *Atluri Brahmanandam v. Anne Sai Bapuji (2010) 14 SCC 466 : AIR 2011 SC 545 and Laxmibai v. Bhagwantbuva (2013) 4 SCC 97: AIR 2013 SC 1204*).

•

249. EXPLOSIVE SUBSTANCES ACT, 1908 – Sections 2 and 7

EVIDENCE ACT, 1872 – Sections 9 and 27

INDIAN PENAL CODE, 1860 – Section 120-B

- (i) Whether it is necessary to examine the District Magistrate to prove sanction of prosecution? Held, No.**
- (ii) Power to grant sanction for prosecution is delegated to District Magistrate in M.P., so the District Magistrate has authority to give consent for prosecution.**
- (iii) Delay in holding T.I. parade – Accused were arrested on 08.06.1997 – Test Identification parade was held on 25.6.1997 – Witnesses also identified accused persons in court – Delay does not affect the case of prosecution.**
- (iv) Whether formal arrest of accused is necessary before recovery, on the information given by the accused? Held, No.**

- (v) **Huge quantity of ammonium nitrate was recovered along with other items from accused person – The cumulative effect is that the possession of these articles was conscious possession.**

विस्फोटक पदार्थ अधिनियम, 1908 – धारा 2 और 7

साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 9 और 27

भारतीय दण्ड संहिता, 1860 – धारा 120 बी

- (i) क्या अभियोजन स्वीकृति को प्रमाणित करने के लिए जिला मजिस्ट्रेट का कथन करवाना आवश्यक होता है ? अभिनिर्धारित किया गया, नहीं।
- (ii) अभियोजन चलाने की स्वीकृति देने के लिए मध्यप्रदेश में जिला मजिस्ट्रेट को शक्तियां प्रत्यायोजित की गयी है इसलिए अभियोजन की सहमति देने के लिए जिला मजिस्ट्रेट प्राधिकृत होता है।
- (iii) पहचान परेड के संचालन में विलंब – अभियुक्त 08.06.1997 को गिरफ्तार हुआ पहचान परेड 25.06.1997 को करवायी गयी। गवाहों ने अभियुक्त व्यक्तियों को न्यायालय में भी पहचाना। विलंब अभियोजन के मामले को प्रभावित नहीं करता है।
- (iv) क्या अभियुक्त द्वारा दी गयी सूचना के आधार पर बरामदगी के पूर्व अभियुक्त की औपचारिक गिरफ्तारी आवश्यक होती है अभिनिर्धारित किया गया, नहीं।
- (v) भारी मात्रा में अमोनियम नाइट्रेट अन्य सामग्रियों के साथ अभियुक्तों से बरामद हुआ इसका संचयी प्रभाव यह है कि उक्त सामग्रियों का आधिपत्य जाग्रत (जानकारी में) आधिपत्य था।

Chandra Prakash v. State of Rajasthan

Judgment dated 09.05.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 1155 of 2014, reported in 2014 (3) Crimes 59 (SC): 2014 Cri.LJ 2884 (SC)

Extracts from the judgment:

The learned counsel for Abdul Mateen has submitted that no consent has been granted by the Central Government. In this context, we may refer to the decision in **State of M.P. v. Bhupendra Singh, (2000) 1 SCC 555**. In the said case, the consent for the prosecution was granted by the Additional District Magistrate by notification dated 24.04.1995 issued by the State Government. The High Court has quashed the proceeding as there was no sanction. This Court concurred with the said view on the ground that it was within the domain of the Central Government to delegate the authority and, in fact, the Central Government vide notification dated 02.12.1978 has entrusted to the District Magistrates in the State of Madhya Pradesh its consent under Section 7 of the 1908 Act. Thus, there could be delegation by the Central Government to the District Magistrates.

The third aspect of challenge to the sanction is that the District Magistrate has not been examined as a witness to prove the order of sanction. On a perusal of the document, we find that the same has been proven by the competent

person and the document has been marked as Ext. P-277/278. We are of the considered opinion that the examination of the District Magistrate to prove his consent is really not necessary. In view of the aforesaid, the submission that there has been delay in holding the test identification parade does not really affect the case of the prosecution. It is also noteworthy that the witnesses had identified the accused persons in court and nothing has been elicited in the cross-examination even to create a doubt. Thus, we repel the submission advanced by the learned counsel for accused Abdul Hamid and Raise Beg.

As the material brought on record would show, the accused was in the custody of the investigating agency and the fact whether he was formally arrested or not will not vitiate the factum of leading to discovery. However, it may be stated that the accused was also arrested on that day. We have dealt with the issue that formal arrest is not necessary as Mr. Jain has seriously contended that the arrest was done after the recovery. As we have clarified the position in law, the same would not make any difference.

Section 2 of the 1908 Act has a deeming provision which states that explosive substance would include any materials for making any explosive substance. Similarly, Section 4(d) of the 1884 Act has a broader spectrum which includes coloured fibres or any other substances, whether single chemical compound or a mixture of substances. That apart, as we find, apart from ammonium nitrate other articles had been seized. The combination of the same, as per the evidence of the expert witness, was sufficient to prepare a bomb for the purpose of explosion. In addition to the same, huge quantity of ammonium nitrate was seized and it was seized along with other items. The cumulative effect is that the possession of these articles in such a large quantity by the accused gives credence to the prosecution version that the possession was conscious and it was intended to be used for the purpose of the blast.

•

250. HINDU MARRIAGE ACT, 1955 – Section 25

Where marriage between parties is declared null and void by the trial court, it is not justified for the trial court to grant maintenance to the wife.

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 – धारा 25

विचारण न्यायालय ने पक्षकारों के बीच हुए विवाह को शून्य और शून्यवत घोषित कर दिया। विचारण न्यायालय के लिए यह न्यायसंगत नहीं है कि वह पत्नी के लिए भरण-पोषण स्वीकार करे।

Kamlesh v. Geeta

Judgment dated 24.03.2014 passed by the High Court in F. A. No. 281 of 2006, reported in 2014 (3) MPLJ 190

Extracts from the judgment:

Considering the fact that marriage of appellant with the respondent has been

declared null and void on the ground that wife is not only impotent, but she has not been unfortunately blessed with the female genital parts. Learned trial Court is not justified in awarding the amount of maintenance to the respondent-wife.

I

251. HINDU MARRIAGE ACT, 1955 – Sections 13 (1)(1-a) and 13 (1)(1-b)

- (i) For desertion –
 - (a) The factum of separation,
 - (b) The intention to bring cohabitation permanently to an end,
 - (c) The absence of consent and
 - (d) Absence of conduct giving reasonable cause to spouse leaving the matrimonial home to form the necessary intention aforesaidmust be proved by concerning spouse.
- (ii) For the decree of divorce on the ground of desertion, it is necessary to prove that the wife had deserted the husband for a continuous period of not less than two years immediately preceding the presentation of the petition – In this case, in two years, husband had stayed with wife for two days – Desertion has not been found proved.
- (iii) Subsequent event, if established, can be considered for mental cruelty.

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 – धारा 13 (1) (1.) 13 (1) (1.b)

- (i) परित्याग के लिए –
 - (a) पृथक्करण का तथ्य,
 - (b) सहवास का आशय स्थायी रूप से समाप्त होना,
 - (c) सहमति का अभाव और
 - (d) स्पाउस को वैवाहिक गृह छोड़ने के लिए युक्तियुक्त कारण देने वाले आचरण का अभाव ऊपर लिखे आवश्यक आशय से संबंधित स्पाउस के लिए प्रमाणित करना आवश्यक है।
- (ii) परित्याग के आधार पर विवाह विच्छेद की आज्ञाप्ति के लिए यह प्रमाणित होना आवश्यक होता है कि पत्नी ने पति को याचिका प्रस्तुत करने के ठीक पूर्व के 2 वर्षों से लगातार त्याग रखा है। इस मामले में पति पत्नी के साथ उक्त दो वर्षों की अवधि के बीच 2 दिन के लिए रूका था इसलिए परित्याग प्रमाणित नहीं पाया गया था।
- (iii) यदि पश्चात्पूर्ती घटना प्रमाणित होती है तो उसे मानसिक कूरता के लिए विचार में लिया जा सकता है।

Malathi Ravi, M.D. v. B.V. Ravi, M.D.

Judgment dated 30.06.2014 passed by the Supreme Court in Civil Appeal No. 5862 of 2014, reported in (2014) 7 SCC 640

Extracts from the judgment:

In the *Savitri Pandey v. Prem Chandra Pandey*, (2002) 2 SCC 73, reference was also made to *Lachman Utamchand Kirpalani v. Meena*, AIR 1964 SC 40, wherein it has been held that desertion in its essence means the intentional permanent forsaking and abandonment of one spouse by the other without that other's consent, and without reasonable cause. For the offence of desertion so far as the deserting spouse is concerned, two essential conditions must be there (1) the factum of separation, and (2) the intention to bring cohabitation permanently to an end (*animus deserendi*). Similarly two elements are essential so far as the deserted spouse is concerned: (1) the absence of consent, and (2) absence of conduct giving reasonable cause to the spouse leaving the matrimonial home to form the necessary intention aforesaid. For holding desertion as proved the inference may be drawn from certain facts which may not in another case be capable of leading to the same inference; that is to say the facts have to be viewed as to the purpose which is revealed by those acts or by conduct and expression of intention, both anterior and subsequent to the actual acts of separation.

In the case at hand, the Family Court, on the basis of the evidence brought on record, has recorded a finding that there was no desertion for a continuous period of two years. The High Court has reversed it by emphasizing on certain aspects of conduct. Analysing the evidence, we are of the considered opinion that it is not established that the appellant wife had deserted the husband for a continuous period of not less than two years immediately preceding the presentation of the petition. It is because the petition was presented in the year 2001 and during the cross-examination of the husband it has been admitted by him that he had gone to Gulbarga in May 1999 for two days. The Family Court, on the basis of material brought on record, has opined that there is no sufficient evidence to come to a definite conclusion that the wife deserted him with the intention to bring the matrimonial relationship to an end and further the period of two years was not completed. The High Court, as it seems to us, has not dealt with this aspect in an appropriate manner and opined that the wife had no intention to lead a normal married life with the husband. Therefore, the allegation of desertion, as enshrined under Section 13(1)(i-b) has not been established. The finding on that score as recorded by the learned Principal Judge, Family Court, deserves to be affirmed and we so do.

•

***252. HINDU MARRIAGE ACT, 1955 – Section 13 (1) (i-a) and (i-b)**

- (i) **Cruelty, when constituted? Word 'cruelty' is not defined in the Act in a specific manner and whether any act constitutes cruelty or not depends upon the facts of each and every case.**
- (ii) **In the light of the law laid down by the Supreme Court in the case of *Samar Gosh v. Jaya Gosh*, (2007) 4 SCC 511, it was held that being quarrelsome with spouse and parents, not preparing meals**

for husband and family members, compelling husband to reside away from his parents or often threatening to commit suicide and desertion without any reason, clearly amount to cruelty.

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 – धारा 13 (1) (i) और (i-b)

- (i) क्रूरता कब गठित होगी – शब्द “क्रूरता” को अधिनियम में विशिष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया गया है और कोई कृत्य क्रूरता गठित करता है या नहीं यह प्रत्येक मामले के तथ्यों पर निर्भर करता है।
- (ii) सर्वोच्च न्यायालय द्वारा समीर घोष विरुद्ध जया घोष (2007) 4 एस.सी.सी. 511 के मामले में प्रतिपादित विधि के प्रकाश में यह निर्धारित किया गया कि स्पाउस के साथ और उसके माता-पिता के साथ झगड़ालू होना, पति और परिवार के सदस्यों के लिए भोजन तैयार न करना, पति को अपने माता-पिता से अलग निवास करने के लिए बाध्य करना, प्रायः आत्महत्या की धमकी देना और बिना किसी कारण के पति का परित्याग करना स्पष्ट रूप से क्रूरता गठित करते हैं।

Shikha Tamrakaar v. Rohit Kumar Tamrakaar

Judgment dated 19.12.2013 passed by the High Court of M.P. in First Appeal No. 605 of 2008, reported in 2014 (3) MPLJ 337 (DB)

•

253. HINDU MINORITY AND GUARDIANSHIP ACT, 1956 – Section 8

Natural guardian, powers of – Whether natural guardian can alienate properties of minor without previous permission of the Court? Held, No – Law explained – Further held, such property can be sold by the natural guardian for the proper benefit, protection, education etc. of the minor with the leave of the Court.

हिन्दू अवयस्कता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 – धारा 8

प्राकृतिक संरक्षक की शक्तियों – क्या प्राकृतिक संरक्षक न्यायालय की पूर्व अनुमति के बिना अवयस्क की सम्पत्ति अन्यसंक्रात कर सकता है? अभिनिर्धारित किया गया - नहीं – विधि स्पष्ट की गयी – यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि ऐसी सम्पत्ति प्राकृतिक संरक्षक द्वारा अवयस्क के युक्तियुक्त हितों, रक्षण, शिक्षा आदि के लिए न्यायालय की अनुमति से विक्रय की जा सकती है।

Saroj v. Sunder Singh & ors.

Judgment dated 25.11.2013 passed by the High Court in Civil Appeal No. 10582 of 2013, reported in 2014 (II) MPJR (SC) 80

Extracts from the judgment:

Section 8 of the Hindu Minority and Guardianship Act, 1956 deals with the powers of natural guardian of a Hindu minor and the said section mandates that the natural guardian has power to do all acts which are necessary or reasonable and proper for the benefit of the minor or for the realization, protection or benefit of the minor's estate, etc. The provision reads as follows:

“8. Powers of natural guardian. (1) The natural guardian of a Hindu minor has power, subject to the provisions of this section, to do all acts which are necessary or reasonable and proper for the benefit of the minor or for the realization, protection or benefit of the minor’s estate; but the guardian can in no case bind the minor by a personal covenant.

(2) The natural guardian shall not, without the previous permission of the court,

- (a) mortgage or charge, or transfer by sale, gift, exchange or otherwise any part of the immovable property of the minor; or
- (b) lease any part of such property for a term exceeding five years or for a term extending more than one year beyond the date on which the minor will attain majority.

(3) Any disposal of immovable property by a natural guardian, in contravention of sub-section (1) or subsection (2), is voidable at the instance of the minor or any person claiming under him.

(4) No court shall grant permission to the natural guardian to do any of the acts mentioned in subsection (2) except in case of necessity or for an evident advantage to the minor.

As per clause (a) of subsection (2) of Section 8 no immovable property of the minor can be mortgaged or charged, or transferred by sale, gift, exchange or otherwise without the previous permission of the Court. Under subsection

(3) of Section 8 disposal of such an immovable property by a natural guardian, in contravention of subsection (1) or subsection (2) of Section 8, is voidable at the instance of the minor or any person claiming under him.

In the present case, though it is stated that the property has been sold for the proper benefit of the minors, their protection, education and marriage, there is nothing on record to suggest that previous permission of the Court was obtained by the natural guardian before transfer by sale in question.

•

254. HINDU SUCCESSION ACT, 1956 – Section 6

M.B. LAND REVENUE AND TENANCY ACT, SAMVAT, 2007 – Section 82

Death of deceased had taken place between 1953 to 1955 but before 1956 when Hindu Succession Act, 1956 came into force – Succession will be governed by section 82 of M.B. Land Revenue and Tenancy Act and not by section 6 of Hindu Succession Act, 1956 – The Act of 1956 is not retrospective but prospective in operation.

हिन्दू उत्तराधिकारी अधिनियम, 1956 – धारा 6

मध्य.भारत भू-राजस्व और किरायेदारी अधिनियम, संवत्, 2007 – धारा 82

मृतक 1953 से 1955 के बीच किन्तु 1956 के पूर्व मरा जब हिन्दू उत्तराधिकारी अधिनियम, 1956 प्रभावशील हुआ। उत्तराधिकार धारा 82 मध्य भारत भू-राजस्व एवं किरायेदारी अधिनियम से शासित होगा न कि धारा 6 हिन्दू उत्तराधिकारी अधिनियम, 1956 से। अधिनियम 1956 भूतलक्षी नहीं है बल्कि भविष्यलक्षी है।

Jaldevi and another v. Matadeen and others

Judgment dated 02.04.2014 passed by the High Court in S. A. No. 161 of 2011, reported in 2014 (3) MPLJ 171

Extracts from the Judgment:

Having perused the judgment of Courts below and the record of the case, it is evident that after death Chinku was survived by widow Mula and two daughter namely Vaikunthi and Jaldevi. Chinku was having no son. As per the evidence on record, the death of Chinku had taken place during the period 1953 to 1955. In absence of any evidence to the contrary as regard the date of death, there is no reason to discard the conclusive evidence as regards the period of death of Chinku. The provisions of section 6 of the Hindu Succession Act, 1956 came into force in the year 1956 and since the death of Chinku had taken place prior to 1956, the succession shall be governed under the provisions of Madhya Bharat Land Revenue and Tenancy Act, Samwat, 2007, section 82 of which deals with devolution of rights on the death of male Pakka tenant. Section 82 provides that when a male Pakka tenant dies, his interest in his holding shall devolve in accordance with the order of succession. For ready reference, relevant portion of section 82 is quoted hereinbelow:-

“82. Devolution of right on the death of a male Pakka tenant.

- When a male Pakka tenant dies, his interest in his holding shall devolve in accordance with the order of succession given below-

Class I - Son, grandson (son's son), great grandson (son's son's son), widow and predeceased son's widow, predeceased grandson's widow and predeceased great grandson's widow.

Class II - unmarried daughter.

Class III - married daughter.

Class IV - father.

Class V - mother (if she is a widow).

Class VI - Step-mother (if she is a widow).

Class VII - brother of the whole blood.

•

255. INDIAN PENAL CODE, 1860 – Sections 79, 304-A, 304 Pt. II, 336, 337 and 338

CRIMINAL PROCEDURE CODE, 1973 – Sections 211, 215, 216 and 464

TORTS : Negligence

(i) Rashness – Meaning – Where the actor foresees possible consequences but, foolishly thinks they will not occur as a result of his act – Negligence – Meaning – The essence of

negligence whether arising from an act of commission or omission lies in neglect of care towards a person to whom the defendant or the accused, as the case may be, owes a duty to take care to prevent damage or injury to the property or the person of the victim.

- (ii) Concept of negligence in civil and criminal law – Difference – Negligence to provide a cause of action to the affected party to sue for damages is different from negligence which would be required to prove an offence punishable under section 304-A IPC – In the latter case, it is imperative for the prosecution to establish that the negligence with which the accused is charged is “gross” in nature – What is “gross” would depend on the fact situation of each case and cannot, therefore, be defined with certitude.
- (iii) Criminal liability under section 304-A, when arises? It shall arise only if the prosecution proves that the death of a victim was the result of a rash or negligent act of the accused and that such act was the proximate and efficient cause (*causa causans*) without the intervention of another’s negligence – What was the *causa causans* in a given case, would depend upon the fact situation in which the occurrence has taken place and the question arises.
- (iv) Availability of protection under section 79 IPC on the basis of the no objection certificates issued by the authorities concerned granted and from time to time renewed the Cinema licence? Fundamental obligation and duty to care at all times rested with the occupiers of the Cinema and the licensee thereof – In the discharge of that duty the occupiers were not entitled to argue that so long as there was a licence in their favour, they would not be accountable for the loss of life or limb of anyone qua whom the occupiers owed that duty.

भारतीय दण्ड संहिता, 1860 – धारा 79, 304 ए, 304 भाग 2 और 336 से 338

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 211, 215, 216 और 464

दुष्कृति विधि:

- (i) उतावलापन – अर्थ – जहाँ कलाकार संभावित परिणामों को पहले से ही जानता हो किन्तु मूर्खता पूर्वक यह सोचता है कि ऐसा नहीं होगा और वे परिणाम उसके कृत्य से होते हैं। उपेक्षा – अर्थ – उपेक्षा का तत्व एक कार्य के करने या करने का लोप करने से उत्पन्न होता है जो कि किसी व्यक्ति के प्रति सावधानी में उपेक्षा करना जिसके प्रति प्रतिवादी या अभियुक्त का यह कर्तव्य था कि उसे क्षति या उपहति से बचाने के लिए सावधानी रखे जो कि किसी व्यक्ति या वस्तु को हो सकती है।

- (ii) उपेक्षा की धारणा व्यवहार और दण्डिक कानून में – अन्तर – प्रभावित पक्षकारों को क्षतिपूर्ति के लिए दावा करने का वाद कारण उत्पन्न कराना उस उपेक्षा से भिन्न है जो धारा 304-ए भा.दं.सं में दण्डित अपराध को प्रमाणित करने के लिए आवश्यक है – बाद के मामले में अर्थात् दण्डिक उपेक्षा के मामले में अभियोजन का यह प्रमाणित करना होता है कि अभियुक्त पर जिस उपेक्षा का आरोप लगाया गया वह “घोर या भारी” प्रकृति की है – “घोर” – यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और स्थिति पर निर्भर करता है इसे निश्चित रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता।
- (iii) धारा 304-ए भा.दं.सं के तहत दण्डिक दायित्व कब उत्पन्न होता है ? यह केवल तब उत्पन्न जब अभियोजन यह प्रमाणित करता है कि आहत की मृत्यु अभियुक्त के उतावलेपन या उपेक्षा पूर्ण कृत्य का परिणाम थी और ऐसा कृत्य मृत्यु के कारण से निकटतम और परिणाम कारक था और बीच में किसी अन्य उपेक्षा के आए बिना था। कार्य और परिणाम प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर जिनमें घटना हुई निर्भर करता है।
- (iv) धारा 79 भारतीय दण्ड संहिता की सुरक्षा की उपलब्धता जो कि प्राधिकारियों द्वारा जारी अनापत्ति प्रमाणपत्र और सिनेमा अनुज्ञप्ति के समय-समय पर नवीनीकरण के आधार पर थी ? सावधानी रखने के कर्तव्य का मूलभूत दायित्व प्रत्येक समय पर सिनेमा के अधिभोगी और अनुज्ञप्ति धारी पर होता है। वह अपने कर्तव्यों के निर्वहन में इन तर्कों को करने का अधिकारी नहीं होता कि उसके पक्ष में एक अनुज्ञप्ति थी और इस कारण वह जीवन की हानि के लिए जबाबदेह नहीं है क्योंकि यह अधिभोगी का कर्तव्य था।

**Sushil Ansal v. State Through Central Bureau of Investigation
Judgment dated 05.03.2014 passed by the Supreme Court in Criminal
Appeal No. 597 of 2010, reported in (2014) 6 SCC 173**

Extracts from the judgment:

To sum up, negligence signifies the breach of a duty to do something which a reasonably prudent man would under the circumstances have done or doing something which when judged from reasonably prudent standards should not have been done. The essence of negligence whether arising from an act of commission or omission lies in neglect of care towards a person to whom the defendant or the accused as the case may be owes a duty of care to prevent damage or injury to the property or the person of the victim. The existence of a duty to care is thus the first and most fundamental of ingredients in any civil or criminal action brought on the basis of negligence, breach of such duty and consequences flowing from the same being the other two. It follows that in any forensic exercise aimed at finding out whether there was any negligence on the part of the defendant/accused, the courts will have to address the above three aspects to find a correct answer to the charge.

Difference between negligence in civil actions and in criminal cases.

Conceptually the basis for negligence in civil law is different from that in criminal law, only in the degree of negligence required to be proved in a criminal action than what is required to be proved by the plaintiff in a civil action for recovery of damages. For an act of negligence to be culpable in criminal law, the degree of such negligence must be higher than what is sufficient to prove a case of negligence in a civil action. Judicial pronouncements have repeatedly declared that in order to constitute an offence, negligence must be gross in nature. That proposition was argued by Mr Ram Jethmalani at great length relying upon the English decision apart from those from this Court and the High Courts in the country. In fairness to Mr Salve, counsel appearing for CBI and Mr Tulsi appearing for the Association of Victims, we must mention that the legal proposition propounded by Mr Jethmalani was not disputed and in our opinion rightly so. That negligence can constitute an offence punishable under Section 304-A IPC only if the same is proved to be gross, no matter the word "gross" has not been used by Parliament in that provision is the settled legal position.

To sum up: for an offence under Section 304-A to be proved it is not only necessary to establish that the accused was either rash or grossly negligent but also that such rashness or gross negligence was the causa causans that resulted in the death of the victim.

The essence of Section 79 IPC is a belief entertained in good faith about the legitimacy of what is being done by the person concerned. Absence of good faith is enough to deny to him the benefit that he claims. Good faith has in turn to be proved by reference to the attendant circumstances. That is because good faith is a state of mind which can be inferred only from the circumstances surrounding the act in question. The test of ordinary prudence applied to such proved attendant circumstances can help court determine whether an act or omission was in good faith or otherwise.

Having said that, we would simply recall our findings recorded earlier that the fundamental obligation and duty to care at all times rested with the occupiers of the Cinema and the licensee thereof. In the discharge of that duty the occupiers were not entitled to argue that so long as there was a licence in their favour, they would not be accountable for the loss of life or limb of anyone qua whom the occupiers owed that duty. The duty to care for the safety of the patrons, even independent of the statutory additions made to the same, required the occupiers to take all such steps and measures, as would have ensured quick dispersal from the cinema building of all the patrons inside the premises in the event of an emergency. The statutory requirements were, in that sense, only additional safeguards which in no way mitigated the common law duty to care, the degree of such care or the manner in which the same was to be discharged.

•

**256. INDIAN PENAL CODE, 1860 – Sections 97 and 326
CRIMINAL PROCEDURE CODE, 1973 – Section 313
CRIMINAL TRIAL:**

- (i) **Right of Private defence – Plea of right of private defence, even if not taken in examination u/s 313 Cr.P.C., can be gathered from the material on record and surrounding facts and circumstances.**
- (ii) **Sentencing – It is the duty of every court to impose adequate sentence – The paramount principle that should be the guiding laser beam is that the punishment should be proportionate – If the proper sentence is not awarded, the fundamental grammar of sentencing is guillotined – The question of sentence is a matter of discretion but it cannot be used in a fanciful and whimsical manner – It is true that one can has its own room, but, in all circumstances, it cannot be allowed to occupy the whole accommodation.**

भारतीय दण्ड संहिता, 1860 – धारा 97 और 326

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 313

दाण्डिक विचारण:

- (i) **निजी प्रतिरक्षा का अधिकार – निजी प्रतिरक्षा के अधिकार का बचाव, चाहे धारा 313 दण्ड प्रक्रिया संहिता के परीक्षण में न लिया गया हो उसे अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री और तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर एकत्रित किया जा सकता है।**
- (ii) **दण्डादेश – यह प्रत्येक न्यायालय का कर्तव्य है कि वह उचित दण्ड देवे। सर्वोच्च सिद्धांत जो कि लेसर बिम की तरह निर्देश देता है वह यह है कि दण्ड (अपराध के) अनुपात में होना चाहिए। यदि उचित दण्ड अधिरोपित नहीं किया गया तो यह दण्डादेश के मूलभूत व्याकरण को प्रभावित करता है दण्ड का प्रश्न विवेकाधिकार का बिन्दु है लेकिन विवेकाधिकार को अवास्तविक और मनमौजी तरीके से उपयोग नहीं किया जा सकता। यह सही है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना कक्ष होता है, किन्तु सभी परिस्थितियों में, यह अनुमत नहीं किया जा सकता कि वह पूरे परिसर को अधिकार में कर लें।**

Sumer Singh v. Surajbhan Singh and others

Judgment dated 05.05.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 942 of 2014, reported in (2014) 7 SCC 323

Extracts from the judgment:

Presently, to the delineation on the first score. As stated earlier, the singular contention of Mr Dash is that the accused persons exercised their right of private defence and even assuming they exceeded that right, they could only have been convicted for a lesser offence. Per contra, Mr Jain would contend that no plea for exercise of right of private defence was taken under the Section 313 CrPC statement and, in any case, the appellants had done nothing to provoke the accused persons to commit the crime in such a heinous manner.

It is well settled in law that exercise of right of private defence even if not specifically taken in Section 313 of the Code, it can always be gathered from the surrounding facts and circumstances. The said position has been stated in ***Vidhya Singh v. State of M.P., (1971) 3 SCC 244, Sikandar Singh v. State of Bihar, (2010) 7 SCC 477 and State of Rajasthan v. Manoj Kumar (2014) 5 SCC 744.***

Having discussed about the discretion, presently we shall advert to the duty of the court in the exercise of power while imposing sentence for an offence. It is the duty of the court to impose adequate sentence, for one of the purposes of imposition of requisite sentence is protection of the society and a legitimate response to the collective conscience. The paramount principle that should be the guiding laser beam is that the punishment should be proportionate. It is the answer of law to the social conscience. In a way, it is an obligation to the society which has reposed faith in the court of law to curtail the evil. While imposing the sentence it is the court's accountability to remind itself about its role and the reverence for the rule of law. It must evince the rationalised judicial discretion and not an individual perception or a moral propensity. But, if in the ultimate eventuate the proper sentence is not awarded, the fundamental grammar of sentencing is guillotined. Law cannot tolerate it; society does not withstand it; and sanctity of conscience abhors it. The old saying "the law can hunt one's past" cannot be allowed to be buried in an indecent manner and the rainbow of mercy, for no fathomable reason, should be allowed to rule. True it is it has its own room, but, in all circumstances, it cannot be allowed to occupy the whole accommodation. The victim, in this case, still cries for justice. We do not think that increase in fine amount or grant of compensation under the Code would be a justified answer in law. Money cannot be the oasis. It cannot assume the centre stage for all redemption. Interference in manifestly inadequate and unduly lenient sentence is the justifiable warrant, for the Court cannot close its eyes to the agony and anguish of the victim and, eventually, to the cry of the society. Therefore, striking the balance we are disposed to think that the case of justice would be best subserved if the respondent is sentenced to undergo rigorous imprisonment for two years apart from the fine that has been imposed by the learned trial Judge.

•

257. INDIAN PENAL CODE, 1860 – Section 302

EVIDENCE ACT, 1872 – Sections 3 and 114 (g)

CRIMINAL PROCEDURE CODE, 1973 – Sections 154 and 157

- (i) The incident had taken place at 6:30 p.m. on 07.08.2005 – FIR lodged at 7:20 p.m., the copy of FIR was despatched next day to the Court – Explanation of investigating officer – FIR could not be sent in the night, is not found inordinate delay in sending the copy of the FIR to the Court.
- (ii) If eye witness did not go to rescue the deceased during incident, on account of fear and threat given by the accused, it is quite natural conduct of the witness.
- (iii) Prosecution has not examined some of the eye-witnesses – Witness, who was examined by the prosecution, found trustworthy, credible and natural – Non-examination of some of the eye witnesses is not fatal for prosecution.

भारतीय दण्ड संहिता, 1860 – 302

साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 3 और 114 (जी)

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 154 और 157

- (i) घटना 07.08.2005 को शाम 6.30 बजे हुई थी। प्रथम सूचना शाम 7.20 बजे दर्ज करवायी – प्रथम सूचना प्रतिवेदन की प्रतिलिपि न्यायालय को अगले दिन प्रेषित की गयी – अन्वेषण अधिकारी का स्पष्टीकरण – प्रथम सूचना प्रतिवेदन रात्रि में नहीं भेजा जा सका था – यह नहीं पाया गया कि प्रथम सूचना प्रतिवेदन न्यायालय को भेजने में अतिरिक्त विलंब हुआ है।
- (ii) यदि चक्षु साक्षी, अभियुक्त द्वारा दी गयी धमकी के भय के कारण, घटना के दौरान मृतक को बचाने नहीं गया, यह गवाह का बिल्कुल स्वाभाविक आचरण है।
- (iii) अभियोजन ने कुछ चक्षु साक्षीगण के कथन नहीं करवाये जिन गवाहों के कथन अभियोजन ने करवाये थे वह विश्वसनीय, विश्वास योग्य और स्वाभाविक पाये गये। कुछ चक्षु साक्षियों का कथन न करवाना घातक नहीं है।

Bahadur Singh and others v. State of Madhya Pradesh

Judgment dated 03.06.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 1095 of 2011, reported in (2014) 6 SCC 639

Extracts from the judgment:

Babu Lal was intercepted and attacked by the appellants armed with deadly weapons and on seeing the same, PW 7 Shanti Lal and Shiv Narayan shouted at them and they were threatened not to come near lest they would also be killed and on account of fear they did not attempt to rescue Babu Lal at the time of occurrence. In fact, they also witnessed the attack made by the assailants on servant Bhanwar and in such circumstances, the conduct of PW 7 Shanti Lal in not going near his brother Babu Lal during the occurrence due to fear is quite natural and the contention raised by the appellants cannot be accepted. The other contention that non-examination of Shiv Narayan affects the prosecution case is also devoid of merit. PW 7 Shanti Lal withstood the lengthy cross-examination and nothing could be elicited to discredit his testimony. We are satisfied that the testimony of PW 7 Shanti Lal is natural, trustworthy and credible and has rightly been relied on by the courts below.

The occurrence took place at 6.30 p.m. on 07-08-2005 and PW 7 Shanti Lal lodged the complaint at 7.20 p.m. in Police Station Aalot. According to Investigating Officer PW 17 P.K. Sharma the copy of FIR could not be sent in the night and it was dispatched next day to the Court. The High Court held that in the totality of the circumstances of the case there was no inordinate delay in sending the FIR to the Court. We concur with the view of the High Court

•

**258. INDIAN PENAL CODE, 1860 – Section 302
EVIDENCE ACT, 1872 – Sections 9, 146 and 154**

- (i) **Appreciation of evidence – Hostile witness – His evidence cannot be rejected as a whole – Relevant parts of the evidence, which are admissible in law, can be used by the court.**
- (ii) **Issues of injuries found on the person of the deceased – No question put to the doctor who conducted P.M., when he was examined – The doctor was the only competent witness who could have furnished the explanation for all such issues – The correctness or legality of said issues could not be raised by the defence.**
- (iii) **Identification of accused – Name of accused persons were described by the wife of deceased in FIR, statement under section 161 Cr.P.C. and deposition in the court – She was close relative of accused persons – There was sufficient light on the spot – Close relatives can easily be identified even in darkness.**

भारतीय दण्ड संहिता, 1860 – धारा 302

साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 9, 146 और 154

- (i) साक्ष्य का मूल्यांकन – पक्ष विरोधी गवाह – उसकी साक्ष्य पूरी तरह खारिज नहीं की जा सकती साक्ष्य का सुसंगत भाग, जो विधि अनुसार ग्राह्य हो, न्यायालय उपयोग में ले सकती है।
- (ii) मृत व्यक्ति के शरीर पर पायी गयी चोटों का बिन्दु – जिस डॉक्टर ने शव परीक्षण संचालित किया उससे इस संबंध में कोई प्रश्न नहीं किये गये जब उसका कथन हो रहा था। डॉक्टर ही वह सक्षम साक्षी था जो इस बिन्दु पर स्पष्टीकरण दे सकता था। उक्त बिन्दु की सत्यता या वैधानिकता को बचाव पक्ष नहीं उठा सकता है।
- (iii) अभियुक्त की पहचान – अभियुक्त गण के नाम मृतक की पत्नी ने प्रथम सूचना प्रतिवेदन में, धारा 161 दण्ड प्रक्रिया संहिता के कथन में, और न्यायालय में दिये कथन में बतलाये। वह अभियुक्त गण की निकट रिश्तेदार भी थी घटना स्थल पर पर्याप्त प्रकाश था। निकट के रिश्तेदार को आसानी से यहाँ तक कि अंधेरे में भी पहचाना जा सकता है।

**Paulmeli and anr. v. State of Tamil Nadu, Tr. Insp. of Police
Judgment dated 23.05.2014 passed by the Supreme Court in Criminal
Appeal No. 1636 of 2011, reported in 2014 Cri.L.J 3240 (SC)**

Extracts from the judgment:

In the instant case, Mallinga (PW.1), wife of deceased, in the FIR, in her statement under Section 161, Cr.P.C. and in her deposition in the court, had specifically named both the appellants. Even though, she had named other persons also. The appellants had been known to the said witness for a long time as they were closely related. There was sufficient light as per the evidence on record even otherwise there can be no difficulty to recognise so closely related

persons even in darkness. The injuries found on the person of the deceased are duly supported by medical evidence as well as got corroborated by the deposition of Malliga (PW.1). The concurrent findings have been recorded by the courts below in this regard. We do not find any force in the submissions advanced by learned counsel for the appellants that the injuries attributed to the appellants could not be caused by Aruval as the findings recorded by the trial court in this regard in that all injuries may be caused by the attack of Aruval. It has further been held by the trial court that the appellants herein came with Aruval and attacked the deceased indiscriminately causing injuries on the neck, chest and other parts of the body, though, inadvertently, the trial court has mentioned that the injuries found on all over the body, had caused the death.

More so, with respect to various issues raised by the learned counsel for the appellants in respect of the injuries found on the person of the deceased, questions have not been put to the doctor who conducted the post-mortem when he appeared in the witness box. In fact, he was the only competent person who could have furnished the explanation for all such issues.

It is a settled legal proposition that in case the question is not put to the witness in cross-examination who could furnish explanation on a particular issue, the correctness or legality of the said fact/issue could not be raised. (Vide: Atluri Brahmanandam (D), *Thr. LRs. v. Anne Sai Bapuji*, AIR 2011 SC 545; and *Laxmibai (dead) Thr. L Rs and another v. Bhagwantbuva (dead) Thr. L Rs and others*, AIR 2013 SC 1204.

In *State of U.P. v. Ramesh Prasad Misra and another*, AIR 1996 SC 2766 : (1996 AIR SCW 3468), this Court held that evidence of a hostile witness would not be totally rejected if spoken in favour of the prosecution or the accused but required to be subjected to close scrutiny and that portion of the evidence which is consistent with the case of the prosecution or defence can be relied upon.

A similar view has been reiterated by this Court in *Sarvesh Narain Shukla v. Daroga Singh and others*, AIR 2008 SC 320 : (2007 AIR SCW 6843); *Subbu Singh v. State by Public Prosecutor*, (2009) 6 SCC 462 : (2009 AIR SCW 3937); *C. Muniappan and others v. State of Tamil Nadu*, AIR 2010 SC 3718; and *Himanshu alias Chintu v. State (NCT of Delhi)*, (2011) 2 SCC 36 : (AIR 2011 SC (Cri) 426).

Thus, the law can be summarised to the effect that the evidence of a hostile witness cannot be discarded as a whole, and relevant parts thereof which are admissible in law, can be used by the prosecution or the defence.

•

**259. INDIAN PENAL CODE, 1860 – Sections 302, 307, 394/397 and 450
CRIMINAL PROCEDURE CODE, 1973 – Section 303**

- (i) **Cross-examination – Opportunity of right to defend, availability of – Law explained –** When the case was fixed for evidence, the competent counsel representing the accused moved an application to defer the cross-examination of the prosecution witnesses on the ground that the accused wanted to engage

one senior counsel who was neither present nor any memo of appearance/vakalatnama was filed on his behalf – The trial Court rejected the application and the engaged counsel cross-examined the witnesses – On the next day of hearing, the counsel appointed by the accused refused to defend him – The trial Court then appointed one Advocate as defence counsel on State expenses who cross-examined other witnesses – Rejecting the ground taken by the defence side with respect to denial of opportunity to defend by counsel of his choice, it was held that the accused failed to show that the Advocate appointed by the trial Court as defence counsel was not competent or was incapable of handling the case – Therefore, the plea raised by the accused is not sustainable.

- (ii) Sentencing policy – Death sentence, award of – Appreciation of R-R (Rarest of the Rare case) test – Mitigating and aggravating circumstances – Law explained.

भारतीय दण्ड संहिता, 1860 – धारा 302, 307, 394/397 और 450

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 303

- (i) प्रतिपरीक्षण – प्रतिरक्षा के अधिकार के अवसर का प्रयोग करना – विधि स्पष्ट की गयी – जब मामला साक्ष्य के लिए नियत था तब सक्षम अभिभाषक जो अभियुक्त का प्रतिनिधित्व कर रहे थे उन्होंने अभियोजन साक्षीगण का प्रतिपरीक्षण स्थगित करने का एक आवेदन दिया जिसका आधार यह था कि अभियुक्त एक वरिष्ठ अधिवक्ता नियुक्त करना चाहता है। वह वरिष्ठ अधिवक्ता न तो उपस्थित थे और न उनका कोई उपस्थिति का मेमो/वकालत नामा प्रस्तुत किया गया था – विचारण न्यायालय ने आवेदन निरस्त कर दिया और नियुक्त अभिभाषक ने गवाहों का प्रतिपरीक्षण किया – सुनवायी की अगली तिथि पर उन अभिभाषक ने अभियुक्त का बचाव करने से इन्कार कर दिया – विचारण न्यायालय ने राज्य के खर्च पर एक अधिवक्ता अभियुक्त के लिए नियुक्त किये जिन्होंने अन्य गवाहों का प्रतिपरीक्षण किया – प्रतिरक्षा पक्ष का यह तर्क अमान्य किया गया कि अभियुक्त के उसके पसन्द के अधिवक्ता नियुक्त करने के अवसर से विचारण न्यायालय न इन्कार किया था यह निर्धारित किया गया कि अभियुक्त यह दर्शाने में असफल रहा है कि विचारण न्यायालय ने बचाव के लिए जो अभिभाषक नियुक्त किये थे वे सक्षम नहीं है और प्रकरण के संचालन में सक्षम नहीं थे – अभियुक्त का तर्क स्थिर रखे जाने योग्य नहीं पाया गया।
- (ii) दण्ड की नीति – मृत्यु दण्ड का दिया जाना विरले से विरलतम प्रकरण का परीक्षण – अल्पीकरण और गम्भीर परिस्थितियां – विधि स्पष्ट की गयी ।

Santosh Kumar Singh v. State of M.P.

Judgment dated 03.07.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 410 of 2012, reported in 2014 (4) MPHT 1 (SC) (3 Judge Bench)

Extracts from the judgment:

First ground taken by the learned counsel for the appellant with respect to denial of opportunity to the accused to be defended by a counsel of his choice is incorrect as from the record we find that proper opportunity was given to the accused. The order sheets of the Trial Court dated 25th September, 2010 shows that the appellant made an application that appellant wanted to get the witnesses cross-examined by senior Advocate, Mr. Rajendra Singh Chauhan, therefore, he requested to defer the cross-examination of the witnesses. The Trial court rejected the application. On 27th September, 2010, counsel of the accused, Mr. Amrendra Singh, who was defending the accused, refused to defend him. The Trial Court then appointed one Mr. G.P. Dwivedi, Advocate, as defence counsel on State expenses.

On perusal of records it transpires that Shri Amrendra Singh, Advocate had filed his Vakalatnama for representing the appellant. On 25th September, 2010, when the case was fixed for evidence though he was competent to cross-examine the witnesses but he moved the application to defer the cross-examination of the witnesses on the ground that the accused wanted to engage senior Advocate, Mr. Rajendra Singh Chauhan.

However, neither Rajendra Singh Chauhan was present nor any Vakalatnama was filed on his behalf. On that day, two witnesses, namely Ramesh Satnami (PW-1) and Gulam Mohd. (PW-2) were examined and Mr. Amrendra Singh, Advocate had cross-examined those witnesses. None of those witnesses were eyewitnesses; in fact one of them, Ramesh Satnami (PW-1) was declared hostile. On 27th September, 2010, Mr. Amrendra Singh refused to appear on behalf of the appellant, when the appellant on asking expressed his inability to appoint any counsel. Since there was none to represent the accused, the Trial Court appointed Mr. G.P. Dwivedi, Advocate, to pursue the appeal. The appellant has failed to show that Mr. G.P. Dwivedi was not competent or was incapable of handling the case. On the contrary from the cross-examination of the witnesses made by Mr. G.P. Dwivedi we find that he was competent to deal with the case. Even on the next date neither Mr. Rajendra Singh Chauhan, Advocate appeared nor he filed his Vakalatnama. Guidelines emerged from ***Bachan Singh v. State of Punjab, (1980) 2 SCC 684*** were noticed by this Court in ***Machhi Singh and others v. State of Punjab, (1983) 3 SCC 470***. In the said case the Court observed:

38. In this background the guidelines indicated in Bachan Singh case (supra) will have to be culled out and applied to the facts of each individual case where the question of imposing of death sentence arises. The following propositions emerge from ***Bachan Singh case*** (supra):

- “(i) The extreme penalty of death need not be inflicted except in gravest cases of extreme culpability.

- (ii) Before opting for the death penalty the circumstances of the 'offender' also require to be taken into consideration along with the circumstances of the 'crime'.
- (iii) Life imprisonment is the rule and death sentence is an exception. In other words death sentence must be imposed only when life imprisonment appears to be an altogether inadequate punishment having regard to the relevant circumstances of the crime, and provided, and only provided, the option to impose sentence of imprisonment for life cannot be conscientiously exercised having regard to the nature and circumstances of the crime and all the relevant circumstances.
- (iv) A balance sheet of aggravating and mitigating circumstances has to be drawn up and in doing so the mitigating circumstances have to be accorded full weightage and a just balance has to be struck between the aggravating and the mitigating circumstances before the option is exercised. In order to apply these guidelines inter alia the following questions may be asked and answered:
 - (a) Is there something uncommon about the crime which renders sentence of imprisonment for life inadequate and calls for a death sentence?
 - (b) Are the circumstances of the crime such that there is no alternative but to impose death sentence even after according maximum weightage to the mitigating circumstances which speak in favour of the offender? If upon taking an overall global view of all the circumstances in the light of the aforesaid proposition and taking into account the answers to the questions posed hereinabove, the circumstances of the case are such that death sentence is warranted, the court would proceed to do so."

In ***Ronny alias Ronald James Alwaris and others v. State of Maharashtra, (1998) 3 SCC 625***, this Court held:

"45. These principles have been applied in various judgments of this Court thereafter and it is unnecessary to multiply the cases here. Whether the case is one of the rarest of the rare cases is a question which has to be determined on the facts of each case. Suffice it to mention that the choice of the death sentence has to be made only in the rarest of the rare cases and that where culpability of the accused has assumed depravity or where the accused is found to be an ardent criminal and menace to the society and; where the crime is committed in an organized manner and is gruesome, cold-blooded, heinous and atrocious; where innocent and unarmed persons are attacked and

murdered without any provocation, the case would present special reason for purposes of sub-section (3) of Section 354 of the Criminal Procedure Code.”

In **Rony alias Ronald James Alwaris** (supra) this Court noted the law laid-down by this Court in **Allauddin Mian & Ors. v. State of Bihar, (1989) 3 SCC 5**, that unless the nature of the crime and circumstances of the offender reveal that criminal is a menace to the society and the sentence of life imprisonment would be altogether inadequate, the Court should ordinarily pass a lesser punishment and not punishment of death which should be reserved for exceptional case only. Considering the cumulative effect of all the factors, like the offences committed under the influence of extreme mental or emotional disturbance, the young age of the accused, the possibility of reform and rehabilitation, etc. the Court may convert the sentence into life imprisonment.

In **State of Maharashtra v. Goraksha Ambaji Adsul, (2011) 7 SCC 437**, this Court made the following observation:

- “30. The principles governing the sentencing policy in our criminal jurisprudence have more or less been consistent, right from the pronouncement of the Constitution Bench judgment of this Court in **Bachan Singh v. State of Punjab, (2010) 8 SCC 775**. Awarding punishment is certainly an onerous function in the dispensation of criminal justice. The court is expected to keep in mind the facts and circumstances of a case, the principles of law governing award of sentence, the legislative intent of special or general statute raised in the case and the impact of awarding punishment. These are the nuances which need to be examined by the court with discernment and in depth.
31. The legislative intent behind enacting Section 354(3) CrPC clearly demonstrates the concern of the legislature for taking away a human life and imposing death penalty upon the accused. Concern for the dignity of the human life postulates resistance to taking a life through law’s instrumentalities and that ought not to be done, save in the rarest of rare cases, unless the alternative option is unquestionably foreclosed. In exercise of its discretion, the court would also take into consideration the mitigating circumstances and their resultant effects.
32. The language of Section 354(3) demonstrates the legislative concern and the conditions which need to be satisfied prior to imposition of death penalty. The words, “in the case of sentence of death, the special reasons for such sentence” unambiguously demonstrate the command of the legislature that such reasons have to be recorded for imposing the punishment of death sentence. This is how the concept of the rarest of rare cases has emerged in law. Viewed from that angle, both the legislative provisions and judicial pronouncements are at ad idem in law. The death penalty should be imposed in the

rarest of rare cases and that too for special reasons to be recorded. To put it simply, a death sentence is not a rule but an exception. Even the exception must satisfy the prerequisites contemplated under Section 354(3) CrPC in light of the dictum of the Court in **Bachan Singh** (supra).

The Constitution Bench judgment of this Court in **Bachan Singh** (supra) has been summarised in para 38 in **Machhi Singh v. State of Punjab, (1998) 1 SCC 149**, and the following guidelines have been stated while considering the possibility of awarding sentence of death: [**Machhi Singh case** (supra),]

- “(i) The extreme penalty of death need not be inflicted except in gravest cases of extreme culpability.
- (ii) Before opting for the death penalty the circumstances of the ‘offender’ also requires to be taken into consideration along with the circumstances of the ‘crime’.
- (iii) Life imprisonment is the rule and death sentence is an exception. ... death sentence must be imposed only when life imprisonment appears to be an altogether inadequate punishment having regard to the relevant circumstances of the crime, and provided, and only provided the option to impose sentence of imprisonment for life cannot be conscientiously exercised having regard to the nature and circumstances of the crime and all the relevant circumstances.
- (iv) A balance sheet of aggravating and mitigating circumstances has to be drawn up and in doing so the mitigating circumstances have to be accorded full weightage and a just balance has to be struck between the aggravating and the mitigating circumstances before the option is exercised.”

The judgment in **Bachan Singh** (supra), did not only state the above guidelines in some elaboration, but also specified the mitigating circumstances which could be considered by the Court while determining such serious issues and they are as follows:

“206. ... ‘Mitigating circumstances.—In the exercise of its discretion in the above cases, the court shall take into account the following circumstances:

- (1) That the offence was committed under the influence of extreme mental or emotional disturbance.
- (2) The age of the accused. If the accused is young or old, he shall not be sentenced to death.
- (3) The probability that the accused would not commit criminal acts of violence as would constitute a continuing threat to society.

- (4) The probability that the accused can be reformed and rehabilitated. The State shall by evidence prove that the accused does not satisfy Conditions (3) and (4) above.
- (5) That in the facts and circumstances of the case the accused believed that he was morally justified in committing the offence.
- (6) That the accused acted under the duress or domination of another person.
- (7) That the condition of the accused showed that he was mentally defective and that the said defect impaired his capacity to appreciate the criminality of his conduct.”

Now, we may examine certain illustrations arising from the judicial pronouncements of this Court.

In ***D.K. Basu v. State of W.B., (2002) 1 SCC 351***, this Court took the view that custodial torture and consequential death in custody was an offence which fell in the category of the rarest of rare cases. While specifying the reasons in support of such decision, the Court awarded death penalty in that case.

In ***Santosh Kumar Satishbhusan Bariyar v. State of Maharashtra, (1972) 2 SCC 640***, this Court also spelt out in paras 56 to 58 that nature, motive, impact of a crime, culpability, quality of evidence, socio-economic circumstances, impossibility of rehabilitation are the factors which the court may take into consideration while dealing with such cases.

In that case the friends of the victim had called him to see a movie and after seeing the movie, a ransom call was made, but with the fear of being caught, they murdered the victim. The Court felt that there was no evidence to show that the criminals were incapable of reforming themselves, that it was not a rarest of the rare case, and therefore, declined to award death sentence to the accused.

Interpersonal circumstances prevailing between the deceased and the accused was also held to be a relevant consideration in ***Vashram Narshibhai Rajpara v. State of Gujarat, (1996) 8 SCC 167***, where constant nagging by family was treated as the mitigating factor, if the accused is mentally unbalanced and as a result murders the family members. Similarly, the intensity of bitterness which prevailed and the escalation of simmering thoughts into a thirst for revenge and retaliation were also considered to be a relevant factor by this Court in different cases.

This Court in ***Satishbhusan Bariya*** (supra) also considered various doctrines, principles and factors which would be considered by the Courts while dealing with such cases. The Court discussed in some elaboration the applicability of the doctrine of rehabilitation and the doctrine of prudence. While considering the application of the doctrine of rehabilitation and the extent of weightage to be given to the mitigating circumstances, it noticed the nature of the evidence and the background of the accused. The conviction in that case was entirely based upon the statement of the approver and was a case purely of circumstantial

evidence. Thus, applying the doctrine of prudence, it noticed the fact that the accused were unemployed, young men in search of job and they were not criminals. In execution of a plan proposed by the appellant and accepted by others, they kidnapped a friend of theirs. The kidnapping was done with the motive of procuring ransom from his family but later they murdered him because of the fear of getting caught, and later cut the body into pieces and disposed it off at different places. One of the accused had turned approver and as already noticed, the conviction was primarily based upon the statement of the approver.”

“41. The above principle, as supported by case illustrations, clearly depicts the various precepts which would govern the exercise of judicial discretion by the courts within the parameters spelt out under Section 354(3) CrPC. Awarding of death sentence amounts to taking away the life of an individual, which is the most valuable right available, whether viewed from the constitutional point of view or from the human rights point of view. The condition of providing special reasons for awarding death penalty is not to be construed linguistically but it is to satisfy the basic features of a reasoning supporting and making award of death penalty unquestionable. The circumstances and the manner of committing the crime should be such that it pricks the judicial conscience of the court to the extent that the only and inevitable conclusion should be awarding of death penalty.”

This Court in ***Ramnaresh and others vs. State of Chattisgarh, (2012) 4 SCC 257***, noticed the aggravating and mitigating circumstances with respect to a crime and held as follows:

“76. The law enunciated by this Court in its recent judgments, as already noticed, adds and elaborates the principles that were stated in ***Bachan Singh*** (supra) and thereafter, in ***Machhi Singh, (1983) 3 SCC 470***. The aforesaid judgments, primarily dissect these principles into two different compartments – one being the “aggravating circumstances” while the other being the “mitigating circumstances”.

The court would consider the cumulative effect of both these aspects and normally, it may not be very appropriate for the court to decide the most significant aspect of sentencing policy with reference to one of the classes under any of the following heads while completely ignoring other classes under other heads. To balance the two is the primary duty of the court. It will be appropriate for the court to come to a final conclusion upon balancing the exercise that would help to administer the criminal justice system better and provide an effective and meaningful reasoning by the court as contemplated under Section 354(3) CrPC.

Aggravating circumstances

- (1) The offences relating to the commission of heinous crimes like murder, rape, armed dacoity, kidnapping, etc. by the accused with a prior record of conviction for capital felony or offences committed by the person having a substantial history of serious assaults and criminal convictions.
- (2) The offence was committed while the offender was engaged in the commission of another serious offence.
- (3) The offence was committed with the intention to create a fear psychosis in the public at large and was committed in a public place by a weapon or device which clearly could be hazardous to the life of more than one person.
- (4) The offence of murder was committed for ransom or like offences to receive money or monetary benefits.
- (5) Hired killings.
- (6) The offence was committed outrageously for want only while involving inhumane treatment and torture to the victim.
- (7) The offence was committed by a person while in lawful custody.
- (8) The murder or the offence was committed to prevent a person lawfully carrying out his duty like arrest or custody in a place of lawful confinement of himself or another. For instance, murder is of a person who had acted in lawful discharge of his duty under Section 43 CrPC.
- (9) When the crime is enormous in proportion like making an attempt of murder of the entire family or members of a particular community.
- (10) When the victim is innocent, helpless or a person relies upon the trust of relationship and social norms, like a child, helpless woman, a daughter or a niece staying with a father/uncle and is inflicted with the crime by such a trusted person.
- (11) When murder is committed for a motive which evidences total depravity and meanness.
- (12) When there is a cold-blooded murder without provocation.
- (13) The crime is committed so brutally that it pricks or shocks not only the judicial conscience but even the conscience of the society.

Mitigating circumstances

- (1) The manner and circumstances in and under which the offence was committed, for example, extreme mental or emotional disturbance or extreme provocation in contradistinction to all these situations in normal course.
- (2) The age of the accused is a relevant consideration but not a determinative factor by itself.

- (3) The chances of the accused of not indulging in commission of the crime again and the probability of the accused being reformed and rehabilitated.
- (4) The condition of the accused shows that he was mentally defective and the defect impaired his capacity to appreciate the circumstances of his criminal conduct.
- (5) The circumstances which, in normal course of life, would render such a behaviour possible and could have the effect of giving rise to mental imbalance in that given situation like persistent harassment or, in fact, leading to such a peak of human behaviour that, in the facts and circumstances of the case, the accused believed that he was morally justified in committing the offence.
- (6) Where the court upon proper appreciation of evidence is of the view that the crime was not committed in a preordained manner and that the death resulted in the course of commission of another crime and that there was a possibility of it being construed as consequences to the commission of the primary crime.
- (7) Where it is absolutely unsafe to rely upon the testimony of a sole eyewitness though the prosecution has brought home the guilt of the accused.

While determining the questions relating to sentencing policy, the Court laid down the Principles at paragraph 77 which reads as follows:

“77. While determining the questions relatable to sentencing policy, the court has to follow certain principles and those principles are the loadstar besides the above considerations in imposition or otherwise of the death sentence.

Principles

- (1) The court has to apply the test to determine, if it was the “rarest of rare” case for imposition of a death sentence.
- (2) In the opinion of the court, imposition of any other punishment i.e. life imprisonment would be completely inadequate and would not meet the ends of justice.
- (3) Life imprisonment is the rule and death sentence is an exception.
- (4) The option to impose sentence of imprisonment for life cannot be cautiously exercised having regard to the nature and circumstances of the crime and all relevant considerations.
- (5) The method (planned or otherwise) and the manner (extent of brutality and inhumanity, etc.) in which the crime was committed and the circumstances leading to commission of such heinous crime.”

Recently, this Court in *Shankar Kisanrao Khade v. State of Maharashtra*, (2013) 5 SCC 546, dealing with a case of death sentence, observed:

“52. Aggravating circumstances as pointed out above, ofcourse, are not exhaustive so also the mitigating circumstances. In my considered view, the tests that we have to apply, while awarding death sentence are “crime test”, “criminal test” and the “R-R test” and not the “balancing test”. To award death sentence, the “crime test” has to be fully satisfied, that is, 100% and “criminal test” 0%, that is, no mitigating circumstance favouring the accused. If there is any circumstance favouring the accused, like lack of intention to commit the crime, possibility of reformation, young age of the accused, not a menace to the society, no previous track record, etc. the “criminal test” may favour the accused to avoid the capital punishment. Even if both the tests are satisfied, that is, the aggravating circumstances to the fullest extent and no mitigating circumstances favouring the accused, still we have to apply finally the rarest of the rare case test (R-R test). R-R test depends upon the perception of the society that is “society-centric” and not “Judge- centric”, that is, whether the society will approve the awarding of death sentence to certain types of crimes or not. While applying that test, the court has to look into variety of factors like society’s abhorrence, extreme indignation and antipathy to certain types of crimes like sexual assault and murder of intellectually challenged minor girls, suffering from physical disability, old and infirm women with those disabilities, etc. Examples are only illustrative and not exhaustive. The courts award death sentence since situation demands so, due to constitutional compulsion, reflected by the will of the people and not the will of the Judges.”

In the present case, the appellant is an educated person, he was about 26 years old at the time of committing the offence. The accused was a tutor in the family of the deceased-Noorjahan. He was in acquaintance with the deceased as well as Zeenat Parveen (PW-3) and Razia Khatoon (PW-4).

There is nothing specific to suggest the motive for committing the crime except the articles and cash taken away by the accused. It is not the case of the prosecution that the appellant cannot be reformed or that the accused is a social menace. Apart from the incident in question there is no criminal antecedent of the appellant. It is true that the accused has committed a heinous crime, but it cannot be held with certainty that this case falls in the “rarest of the rare category”. On appreciation of evidence on record and keeping in mind the facts and circumstances of the case, we are of the view that sentence of death penalty would be extensive and unduly harsh.

•

260. INDIAN PENAL CODE, 1860 – Section 304-B

- (i) **Who is the relative of husband? Relative of husband means a person, who is related by blood, marriage or adoption.**
- (ii) **If a person is not relative of the husband, he cannot be prosecuted for offence under section 304 B IPC.**

भारतीय दण्ड संहिता, 1960 – धारा 304-बी

- (i) पति का नातेदार कौन होता है ? पति के नातेदार से तात्पर्य एक व्यक्ति जो रक्त, विवाह, या दत्तक द्वारा संबंधित होता है।
- (ii) यदि एक व्यक्ति पति का नातेदार नहीं है तो उसे धारा 304 बी भारतीय दण्ड संहिता के अपराध के लिए अभियोजित नहीं किया जा सकता है।

State of Punjab v. Gurmit Singh

Judgment dated 02.07.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 1278 of 2014, reported in 2014 (3) Crimes 44 (SC)

Extracts from the judgment:

In Ramanatha Aiyar's, Advance Law Lexicon (Vol. 4, 3rd Edn.) the word relative means any person related by blood, marriage or adoption. A large number of dictionaries give this word relative, in context, same meaning. It is relevant here to state that the expression "relative of the husband" has been used in Section 498-A of the I.P.C. While interpreting the said expression, this Court in the case of ***U. Suvetha v. State by Inspector of Police and Anr., (2009) 6 SCC 787*** held it to mean a person related by blood, marriage or adoption. Relevant portion of the judgment reads as follows:

"10. In the absence of any statutory definition, the term "relative" must be assigned a meaning as is commonly understood. ordinarily it would include father, mother, husband or wife, son, daughter, brother, sister, nephew or niece, grandson or granddaughter of an individual or the spouse of any person. The meaning of the word "relative" would depend upon the nature of the statute. It principally includes a person related by blood, marriage or adoption."

The expression relative of the husband further came up for consideration in the case of ***Vijeta Gajra v. State of NCT of Delhi, (2010) 11 SCC 618*** and while approving the decision of this Court in ***U. Suvetha*** (supra), it was held that the word relative would be limited only to the blood relations or the relations by marriage. It is appropriate to reproduce the following passage from the said judgment:

"12. Relying on the dictionary meaning of the word "relative" and further relying on Ramanatha Aiyar's, Advance Law Lexicon (Vol. 4, 3rd Edn.), the Court went on to hold that Section 498-A IPC being a penal provision would deserve strict construction and unless a contextual meaning is

required to be given to the statute, the said statute has to be construed strictly. On that behalf the Court relied on the judgment in *T. Ashok Pai v. CIT, (2007) 7 SCC 162*. A reference was made to the decision in *Shivcharan Lal Verma v. State of M.P., (2007) 15 SCC 369*. After quoting from various decisions of this Court, it was held that reference to the word “relative” in Section 498-A IPC would be limited only to the blood relations or the relations by marriage.”

**261. INDIAN PENAL CODE, 1860 – Sections 304-B and 498-A
EVIDENCE ACT, 1872 – Sections 32 (1) and 113-B**

- (i) If there are contradictory parts in dying declaration, which part can be relied on? Part of D.D. which inspires confidence can be relied on.
- (ii) Nature of presumption under section 113-B of Evidence Act – It is a presumption of law – If essentials mentioned in the section have been proved, it becomes obligatory on the court to raise a presumption that the accused caused dowry death – Essentials are:
 - (a) The accused is being tried for the offence of 304-B of I.P.C.
 - (b) The woman was subjected to cruelty or harassment by her husband or his relatives.
 - (c) Such cruelty or harassment was for, or in connection with any demand for dowry.
 - (d) Such cruelty or harassment was soon before her death.

भारतीय दण्ड संहिता, 1860 – धारा 304-बी और 498-ए

साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 32 (1) और 113-बी

- (i) यदि मृत्युकालीन कथन में परस्पर विरोधी भाग हो तब किस भाग पर भरोसा किया जा सकता है ? वह भाग जो विश्वास उत्पन्न करता हो उस पर भरोसा किया जा सकता है।
- (ii) धारा 113-बी साक्ष्य अधिनियम की उपधारणा की प्रकृति – यह एक विधि की उपधारणा है यदि प्रावधान में लिखे गये तथ्य प्रमाणित हो जाते हैं तो न्यायालय पर यह बाध्यताकारी होता है कि वह उपधारणा करे कि अभियुक्त ने दहेज मृत्यु कारित की है। प्रावधान के तत्व ये हैं :-
 - (a) अभियुक्त का विचारण धारा 304-बी भा.द.सं के अपराध के लिए हुआ हो।
 - (b) महिला के साथ पति या पति के नातेदारों ने क्रूरता की।
 - (c) ऐसी क्रूरता दहेज की मांग के संबंध में होना चाहिए।
 - (d) ऐसी क्रूरता महिला की मृत्यु के ठीक पूर्व की जाना चाहिए।

Pradeep Kumar v. State of Haryana

Judgment dated 02.07.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 292 of 2011, reported in (2014) 7 SCC 395

Extract from Judgment:

Ext. PA is the dying declaration which reads as follows:

“Copy of writing is as under:

Q. Are you married?

Ans. I am married and having pregnancy of 7 months. After getting myself examined in ultrasound, I have come to know that the foetus has been smashed.

Q. How many years of your marriage have passed?

Ans. My marriage was performed on 20-6-1995.

Q. How you caught fire?

Ans. Yesterday at 5.30 a.m./6.00 a.m. I started preparing tea outside the verandah. My husband was sleeping in the last room. When the pump of stove was pressed to air and matchstick was lit on. The stove at once got burst and the terrycot suit worn by me caught fire and then I raised alarm.

Sd/-
RO & AC
CJM 2-3-1996

Again said my statement be recorded again, because this statement was tutored to me by my husband. Now I want to make the statement again. You may not show the statement to anybody.

Q. What happened with you?

Ans. A dispute was going on with my husband for the last 10/15 days and he used to beat me and used to remain at the house and was doing nothing. One day my husband tried to hang me to death and demanded Rs 1 lakh from my parents otherwise he would hang me to death. He first tried to burn me in the night and when in the morning at 5.30 a.m. I went to bathroom he sprinkled the oil on the clothes from my back side and lit on the matchstick and rushed toward inside. I raised noise upon which other persons saved me. Thereafter, my husband came there. He tore my clothes at the spot. I have been brought to Rohtak because I had been told that I shall narrate all this to the police. My mothers-in-law prepares the meals herself. She prepares meals for my sister-in-law but she does not provide meals to me.

Q. Why did you make wrong statement earlier ?

Ans. I was made to understand to make such statement.

Q. Are you literate?

Ans. Yes, I am matriculate.

Ro & AC.

RTI & Manju

Certified that the patient remained fit throughout her statement.

Sd/-
A.K. Vimal,
SJM, Rohtak,
2-3-1996 at 2.30 p.m.”

On going through the dying declaration, we find that second part of the dying declaration inspires confidence so as to consider it to be a dying declaration of the deceased. The first part of the dying declaration is tutored by the accused husband as is apparent from the said part of the dying declaration.

On going through the dying declaration, we have held that the second part of the dying declaration inspires confidence so as to consider it to be a dying declaration of the deceased. The first part of the dying declaration is tutored by the accused husband as is apparent from the said part of the dying declaration.

In the present case, it is not in dispute that the marriage took place on 20-6-1995. Manju, wife of the accused Pradeep Kumar got burnt on 1-3-1996 and died on 12-3-1996 within nine months of her marriage. Death of Manju was caused by burns i.e. otherwise than under normal circumstances. It has already been seen that soon before her death she was subjected to cruelty and harassment in connection with demand of dowry. All the five ingredients were proved by the prosecution. Under section 113 B of the Evidence Act when a question arises whether a person committed dowry death and it is proved that the death of woman took place within seven years of marriage; such death took place not under normal circumstances and soon before the death the deceased was subjected to cruelty or harassment by such person for, or in connection with any demand for dowry, the court shall presume that such person had caused the dowry death. The prosecution having successfully proved the dowry death, the trial court and the High Court correctly held the accused Pradeep Kumar guilty of the offence under Section 304-B.

•

***262. INDIAN PENAL CODE, 1860 – Section 376 (2) (g)**

Gang rape, proof of – Prosecutrix stated about the names of accused persons and their roles in the incident categorically and also identified the accused persons in the Court – She admitted in her cross-examination that the names of the accused persons were not known to her but they were living in her village and therefore, she knew them – There were abrasions on the forearm and over the back as well as tenderness on both things, arm and back – Though hymen was old torn but there was pain and tenderness in private parts – Held, statement of prosecutrix being duly corroborated by medical

and other evidence, therefore, appeal is devoid of merits and is liable to be dismissed.

भारतीय दण्ड संहिता, 1860 – धारा 376 (2) (g)

सामूहिक बलात्कार, प्रमाण – अभियोक्त्री ने अभियुक्तगण के नाम और घटना में उनकी भूमिका के बारे में सुस्पष्ट कथन किये और न्यायालय में अभियुक्तगण को पहचाना – प्रतिपरीक्षण में उसने स्वीकार किया कि अभियुक्तगण के नाम का उसे ज्ञान नहीं था लेकिन अभियुक्तगण उसके गांव में रहते थे इसलिए वह उन्हें जानती थी – अभियोक्त्री के भुजा पर और पीठ पर खरोचें थी और दोनों अंगों पर सूजन थी – यद्यपि हाइमन पुराना फटा हुआ था किन्तु उसके निजी अंगों में दर्द तथा सूजन थी – अभिनिर्धारित किया गया अभियोक्त्री के कथन की पुष्टि मेडीकल से और अन्य साक्ष्य से सम्यक् रूप से हुई अतः अभियुक्तगण की अपील खारिज की गयी।

Lalta Prasad & ors. v. State of M.P.

Judgment dated 26.09.2013 passed by the High Court in Criminal Appeal No. 1191 of 1997, reported in ILR (2014) MP 560

•

263. MOTOR VEHICLES ACT, 1988 – Sections 147 and 149

- (i) **What is the difference between liabilities of insurance company under sections 147(1) and 149 (1) of Motor Vehicles Act? Though the insurance Company is found successful in its defence under section 149, yet required to pay the compensation to the third party first and then it may recover from the owner of the vehicle but in case of goods carriage vehicle the insurance company is only liable for owner or the agent of the owner of the goods accompanying such goods – Insurance company is not liable for gratuitous passenger travelling in the goods carriage vehicle.**
- (ii) **Deceased and injured were sitting on the mudguard of the tractor at the time of accident – Insurance company held not liable for their compensation – Even order of pay and recover held not justified.**

मोटर यान अधिनियम, 1988 – धारा 147 और 149

- (i) **बीमा कंपनी के धारा 147 (1) और 149 (1) मोटरयान अधिनियम के अधीन दायित्वों में क्या अन्तर है? यद्यपि बीमा कंपनी धारा 149 के अधीन उसकी प्रतिरक्षा में सफल पायी गयी, इसके बावजूद उसके लिए यह आवश्यक है कि वह तृतीय पक्ष को पहले प्रतिकर अदा करे और उसे वाहन के मालिक से वसूल कर सकती है किन्तु माल वाहक वाहन की दशा में बीमा कंपनी केवल माल के स्वामी या माल के स्वामी के प्रतिनिधि जो कि माल के साथ हो उसी के लिए उत्तरदायी होती है। बीमा कंपनी माल वाहक वाहन में यात्रा कर रहे अनुग्रह यात्री के लिए उत्तरदायी नहीं होती है।**

- (ii) मृतक और आहत दुर्घटना के समय ट्रेक्टर, के मडगार्ड पर बैठे थे बीमा कंपनी को उनके प्रतिकर के लिए उत्तरदायी नहीं माना गया। यहां तक की भुगतान करे और वसूले का आदेश भी न्यायसंगत न होना निर्धारित किया गया।

New India Assurance Co. Ltd v. Matadin and others

Judgment dated 25.07.2013 passed by the High Court in M.A. No. 66 of 2004, reported in 2014 ACJ 1792 (SC)

Extracts from the judgment:

In a case, where the insurance company is successful in its defence under section 149, it may yet be required to pay the amount to the claimant and thereafter, it may recover from the owner of the vehicle. When the insurance company is not statutorily required to cover the liability in respect of a passenger in a vehicle under section 147 unless such passenger is the owner or the agent of the owner of the goods accompanying such goods absolutely there is no need for the insurance company to pay compensation since there is no contractual liability under the statute to pay the amount to the gratuitous passenger travelling in the goods carriage vehicle.

Now, coming to the present scenario of the case, it appears from the facts and the evidence on record of the Tribunal that on the day of accident, the deceased and injured were travelling while sitting on the mudguard of the tractor involved in accident which was driven by Damodar Singh. Sitting on the mudguard is against the policy of insurance as in the tractor, except the driver's seat there is no other provision for sitting. The mudguard is not meant for sitting as it is neither safe nor comfortable. No such permission is given under the policy for sitting on the mudguard. As discussed above, the tractor involved in accident was insured for agricultural and forestry purposes and no premium for carrying such passengers by the side of driver on the mudguard except driver of the vehicle is paid to the insurance company. Obviously, therefore, there is no statutory obligation under section 147 of the Act for indemnifying the liability by the insurance company on behalf of the insured to make payment of the awards to the claimants/heirs of the deceased or injured, who were travelling on the mudguard of the offending tractor. In that view of the matter, the findings of the learned Tribunal issued against the appellant insurance company to the extent of indemnifying the liability of the insured in respect of payment of compensation to the claimants of deceased and injured are not sustainable in law. Since the tractor was being used for purposes other than the purpose for which it was insured, no liability could be fastened on the insurance company. Resultantly, the owner of the vehicle shall be vicariously liable for negligent act of his driver to satisfy the award amount along with interest. Since the appellant insurance company has deposited part of the amount under award in compliance of the directions of Claims Tribunal, the learned Tribunal is directed to recover and deliver such amount to the insurance company in pending execution proceedings. Costs of the appeals shall be borne by the owner of the offending vehicle. Counsel's fee Rs. 1,000, if certified.

•

***264. MOTOR VEHICLES ACT, 1988 – Section 166**

Death claim – Payment of compensation, liability of – Law explained.

Facts of the case:

Deceased wife was going on a motor cycle as pillion rider which was being driven by her husband, owner of the vehicle – The deceased fell down allegedly due to rash and negligent driving of the husband, owner – Deceased succumbed to death due to head injuries sustained in the accident – Claim petition was filed by the daughter of the deceased against husband of deceased and Insurance Company – Insurance Company contested the claim petition on various grounds including the ground that the owner/driver had no valid licence and risk of pillion rider is not covered in the policy – Tribunal awarded compensation of Rs. 3,18,200/- and exonerated the Insurance Company – Held, right from the beginning, the case of the claimant is that the incident occurred due to rash and negligent driving of the owner (husband of the deceased) who was also prosecuted for an offence punishable u/s 304-A of IPC – He nowhere explained under what circumstances the accident occurred – If compensation is awarded, then the award will be in favour of one of the persons who was not only at fault but also did not come to the Tribunal for compensation as he was debarred – Further held, the Insurance Company was rightly exonerated.

मोटर यान अधिनियम, 1988 – धारा 166

मृत्यु प्रकरण – प्रतिकर के भुगतान दायित्व – विधि स्पष्ट की गई मामले के तथ्य – मृतक पत्नी मोटर साइकिल पर पीछे बैठकर जा रही थी मोटर साइकिल पति चला रहा था जो वाहन का मालिक था – मृतक, पति के तेजी और लापरवाही से वाहन चलाने से गिर गयी – दुर्घटना में आयी सिर के चोट के कारण पत्नी की मृत्यु हुई – मृतक की पुत्री ने मृतक के पति और बीमा कंपनी के विरुद्ध दावा याचिका प्रस्तुत की गयी – बीमा कंपनी ने दावा याचिका को विभिन्न आधार पर चुनौती दी जिसमें चालक/स्वामी के पास वैध चालन अनुज्ञप्ति न होना और बीमा पॉलिसी में पीलियन राइडर की रिस्क शामिल न होना भी था – अधिकरण ने 3,18,200 रुपये प्रतिकर निर्धारित किया और बीमा कंपनी को उन्मुक्त कर दिया – अभिनिर्धारित किया गया प्रकरण के प्रारम्भ से ही आवेदक का मामला यह था कि दुर्घटना मृतक के पति के तेजी और लापरवाही से वाहन चलाने से हुई जो कि वाहन का स्वामी भी है और जिसे धारा 304 ए भारतीय दण्ड संहिता के लिए अभियोजित भी किया गया था – वाहन चालक ने यह स्पष्टीकरण नहीं दिया था कि दुर्घटना किन परिस्थितियों में हुई – यदि बीमा कंपनी से प्रतिकर दिलाया जाता तो वह उस व्यक्ति के पक्ष में भी होता जिसकी खुद की त्रुटि थी लेकिन वह प्रतिकर के लिए आवेदन करने से बाधित था – बीमा कंपनी को उचित रूप से उन्मुक्त किया गया यह माना गया ।

Teena alias Rachna (Ku.) v. Cholamandlam M.S. General Insurance

Judgment dated 14.03.2013 passed by the High Court of M.P. in Misc. Appeal No. 746 of 2008, reported in ILR (2014) MP 742

•

265. N.D.P.S. ACT, 1985 – Section 50

Accused carrying a plastic bag – Search of that bag – Whether section 50 of N.D.P.S. Act, 1985 would apply to the above search? Held, No – Where only search of a person is involved then section 50 of the N.D.P.S. Act is applicable.

स्वापक औषधि एवं मनः प्रभावी पदार्थ अधिनियम, 1985 – धारा 50

अभियुक्त एक प्लास्टिक की थैली ले जा रहा था उस थैली की तलाशी ली गयी, क्या धारा 50 एन.डी.पी.एस. एक्ट, 1985 उक्त तलाशी में लागू होगी ? अभिनिर्धारित किया गया, नहीं। जहां एक व्यक्ति की तलाशी हो वहीं धारा 50 एन.डी.पी.एस. एक्ट, लागू होती है।

Krishan Kumar v. State of Haryana

Judgment dated 23.05.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 1563 of 2010, reported in (2014) 6 SCC 664

Extracts from the judgment:

The learned counsel for the appellant contended that the provision of Section 50 of the Act would also apply. While searching the bag, briefcase, etc. carried by the person and its non-compliance would be fatal to the proceedings initiated under the Act. we find no merit in the contention of the learned counsel. It requires to be noticed that the question of compliance or non-compliance with Section 50 of the NDPS Act is relevant only where search of a person is involved and the said section is not applicable nor attracted where no search of a person is involved. Search and recovery from a bag, briefcase, container, etc. does not come within the ambit of Section 50 of the NDPS Act, because firstly, Section 50 expressly speaks of search of person only. Secondly, the section speaks of taking of the person to be searched by the gazetted officer or a Magistrate for the purpose of search. Thirdly, this issue in our considered opinion is no more res integra in view of the observations made by this Court in *Madan Lal v. State of H.P., (2003) 7 SCC 465*. The Court has observed: (SCC p. 471, para 16)

16. A bare reading of Section 50 shows that it only applies in case of personal search of a person. It does not extend to search of a vehicle or a container or a bag or premises (see *Kalema Tumba v. State of Maharashtra, (1999) 8 SCC 257, State of Punjab v. Baldev Singh (1999) 6 SCC 172* and *Gurbax Singh v. State of Haryana (2001) 3 SCC 28*). The language of Section 50 is implicitly clear that the

search has to be in relation to a person as contrasted to search of premises, vehicles or articles. This position was settled beyond doubt by the Constitution Bench in **Baldev Singh** (supra) above being the position, the contention regarding non-compliance with Section 50 of the Act is also without any substance.'

In **State of H.P. v. Pawan Kumar, (2005) 4 SCC 350** this Court has stated: (SCC p. 360. para 11)

'11. A bag, briefcase or any such article or container, etc, can, under no circumstances, be treated as body of a human being. They are given a separate name and are identifiable as such. They cannot even remotely be treated to be part of the body of a human being. Depending upon the physical capacity of a person, he may carry any number of items like a bag, a briefcase, a suitcase, a tin box, a thaila, a jhola, a gathri, a holdall, a carton, etc. of varying size, dimension or weight. However, while carrying or moving along with them, some extra effort or energy would be required. They would have to be carried either by the hand or hung on the shoulder or back or placed on the head. In common parlance it would be said that a person is carrying a particular article, specifying the manner in which it was carried like hand, shoulder, back or head, etc. Therefore, it is not possible to include these articles within the ambit of the word "person" occurring in Section 50 of the Act.'

After discussion on the interpretation of the word 'person', this Court concluded: (**State of H.P. v. Pawan Kumar** (supra) SCC p. 361, para 14)

'14... that the provision of Section 50 will come into play only in the case of personal search of the accused and not of some baggage like a bag, article or container, etc. which [the accused] may be carrying.'

I

266. NEGOTIABLE INSTRUMENTS ACT, 1881 – Section 138

- (i) **Financial capacity of complainant to give big amount as a loan to the accused is a material fact.**
- (ii) **Defence of sale and purchase deal between accused and complainant has been proved by the accused – Complainant was an employee of the accused as a lorry driver having monthly salary of Rs. 2,500 p.m. – His annual saving is Rs. 10,000 – It is not found trustworthy that he is in a position to extend hand loan of Rs. 1,75,000 to the accused – Acquittal by trial court held proper.**

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 – धारा 138

- (i) परिवादी की एक बड़ी राशि ऋण के रूप में अभियुक्त को देने की वित्तीय क्षमता एक तात्विक तथ्य होता है।
- (ii) अभियुक्त और परिवादी के बीच क्रय और विक्रय के सौदे संबंधी प्रतिरक्षा अभियुक्त द्वारा प्रमाणित की गयी। परिवादी अभियुक्त का एक कर्मचारी लॉरी चालक के रूप में था जिसे 2500 रुपये प्रतिमाह वेतन मिलता था उसकी वार्षिक बचत 10,000 रुपये थी यह विश्वास योग्य नहीं पाया गया कि वह अभियुक्त को 1,75,000 रुपये उधार देने की स्थिति में था। विचारण न्यायालय द्वारा की गयी दोषमुक्ति उचित पायी गयी।

Ramdass v. Krishnanand

Judgment dated 23.07.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 1522 of 2014, reported in 2014 (3) Crimes 291(SC)

Extracts from the judgment:

We have heard rival contentions of the learned counsel at length. We find from the record that admittedly, the accused appellant deals with sale and purchase of landed properties and the respondent-complainant works as a Lorry Driver under him with a salary of Rs. 2,500/- p.m. and Rs. 20/- per day towards miscellaneous expenses (bhatta). Admittedly, the Cheque in question was for Rs. 5,00,000/- and all the way the stand of the complainant was that he had given a hand loan of Rs. 1,75,000/- to the accused-appellant. We find no material on record in support of the claim of the complainant giving hand loan to the accused-appellant.

There was also no calculation of account or stipulation of any interest on the alleged loan amount to show as to how the amount of Rs. 5,00,000/- was figured, in return of a hand loan of Rs. 1,75,000/- if at all taken by the appellant from the complainant. It is also not on record whether there was sufficient balance amount or not in the bank account of the accused when the Cheque was dishonoured by the Bank. The complainant himself stated in the cross-examination that after the Cheque was returned without payment, he has not made any enquiry with the Bank as to whether sufficient funds were available or not in the account of the accused.

In the absence of any authenticated and supporting evidence, we cannot believe that the complainant respondent who is employed under the appellant accused, has raised an amount of Rs. 1,75,000/- that too by obtaining loan of Rs. 1,50,000/- from a Bank, only to give hand loan to his employer. As the complainant himself admitted that his net savings in a year comes to about Rs. 10,000/- it is not trustworthy that he was in a position to extend hand loan of such big amount to the appellant.

•

**267. NEGOTIABLE INSTRUMENTS ACT, 1881 – Sections 138 and 142
CRIMINAL PROCEDURE CODE, 1973 – Sections 177, 178, 179 and 184**

- (i) **Complaint of dishonour of cheque – Which court has territorial jurisdiction to entertain it? The territorial jurisdiction is restricted to the court within whose local jurisdiction the offence was committed, which in the present context is, where the cheque is dishonoured by the bank on which it is drawn – Where other offences are also committed in the same transaction general rule of territorial jurisdiction, as provided in Cr.P.C. is applied.**
- (ii) **Complaint of dishonour of cheque – Which court has no territorial jurisdiction to entertain it? Court in whose local jurisdiction the cheque is presented for encashment (complainant's bank) or court in whose local jurisdiction the demand notice has been sent to the accused by complainant has no territorial jurisdiction to entertain the complaint.**
- (iii) **Effect on pending cases – Pending cases, which are reached at the stage of the recording of evidence, after appearance of accused, will be proceeded at that place – Pending cases which are at the pre-summoning stage, the complaint will be maintainable only at the place where cheque stands dishonoured.**

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 – धारा 138 और 142

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 – धारा 177, 178, 179 और 184

- (i) **चेक अनादरण का परिवाद – कौन सा न्यायालय ऐसे परिवाद को ग्रहण करने का प्रादेशिक क्षेत्राधिकार रखती है? प्रादेशिक क्षेत्राधिकार उस न्यायालय तक प्रतिबंधित रहेगा जिसके स्थानीय क्षेत्राधिकार की सीमाओं में अपराध हुआ, वर्तमान संदर्भ में वह न्यायालय जिसकी स्थानीय सीमाओं में वह बैंक स्थित है जहाँ चैक अनादरित हुआ। जहाँ अन्य अपराध भी एक ही संव्यवहार में कारित किये गये हों वहाँ प्रादेशिक क्षेत्राधिकार के दण्ड प्रक्रिया संहिता के सामान्य प्रावधान लागू होंगे।**
- (ii) **चेक अनादरण का परिवाद – किस न्यायालय को ऐसा परिवाद ग्रहण करने का प्रादेशिक क्षेत्राधिकार नहीं होगा? वह न्यायालय जिसकी स्थानीय सीमाओं में चैक भुगतान हेतु प्रस्तुत किया गया (परिवादी का बैंक) या न्यायालय जिसकी स्थानीय सीमाओं से परिवादी द्वारा अभियुक्त का मांग सूचनापत्र भेजा गया, उन न्यायालयों को ऐसे परिवाद ग्रहण करने का प्रादेशिक क्षेत्राधिकार नहीं रहेगा।**
- (iii) **लम्बित मामलों पर प्रभाव – लम्बित मामले जो कि अभियुक्त की उपस्थिति के बाद साक्ष्य अभिलिखित करने के प्रक्रम तक पहुंच चुके हो वे उसी स्थान पर चलेंगे (जहां वर्तमान में चल रहे हैं) – लम्बित मामले जो कि समन जारी करने के पूर्व की अवस्था में है उनका परिवाद केवल उसी स्थान पर चलने योग्य रहेगा जहां चैक अनादरित हुआ है।**

Dashrath Rupsingh Rathod v. State of Maharashtra and another

Judgment dated 01.08.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 2287 of 2009, reported in 2014 (3) Crimes 162 (SC) (Three judge bench)

Extracts from the judgment:

The interpretation of Section 138 of the NI Act which commends itself to us is that the offence contemplated therein stands committed on the dishonour of the cheque, and accordingly the JMFC at the place where this occurs is ordinarily where the Complaint must be filed, entertained and tried. The cognizance of the crime by the JMFC at that place however, can be taken only when the concomitants or constituents contemplated by the Section concatenate with each other. We clarify that the place of the issuance or delivery of the statutory notice or where the Complainant chooses to present the cheque for encashment by his bank are not relevant for purposes of territorial jurisdiction of the Complaints even though non-compliance thereof will inexorably lead to the dismissal of the complaint. It cannot be contested that considerable confusion prevails on the interpretation of Section 138 in particular and Chapter XVII in general of the NI Act. The vindication of this view is duly manifested by the decisions and conclusion arrived at by the High Courts even in the few cases that we shall decide by this Judgment. We clarify that the Complainant is statutorily bound to comply with Section 177 ect. of the CrPC and therefore the place or situs where the Section 138 Complaint is to be filed is not of his choosing. The territorial jurisdiction is restricted to the Court within whose local jurisdiction the offence was committed, which in the present context is where the cheque is dishonoured by the bank on which it is drawn.

We are quite alive to the magnitude of the impact that the present decision shall have to possibly lakhs of cases pending in various Courts spanning across the country. One approach could be to declare that this judgment will have only prospective pertinence, i.e. applicability to complaints that may be filed after this pronouncement. However, keeping in perspective the hardship that this will continue to bear on alleged accused/respondents who may have to travel long distances in conducting their defence, and also mindful of the legal implications of proceedings being permitted to continue in a Court devoid of jurisdiction, this recourse in entirety does not commend itself to us. Consequent on considerable consideration we think it expedient to direct that only those cases where, post the summoning and appearance of the alleged Accused, the recording of evidence has commenced as envisaged in Section 145(2) of the Negotiable Instruments Act, 1881, will proceeding continue at that place. To clarify, regardless of whether evidence has been led before the Magistrate at the pre- summoning stage, either by affidavit or by oral statement, the Complaint will be maintainable only at the place where the cheque stands dishonoured. To obviate and readicate any legal complications, the category of Complaint cases where proceedings have gone to the stage of Section 145(2) or beyond shall be deemed to have been

transferred by us from the Court ordinarily possessing territorial jurisdiction, as now clarified, to the Court where it is presently pending. All other Complaints (obviously including those where the accused/respondent has not been properly served) shall be returned to the Complainant for filing in the proper Court, in consonance with our exposition of the law. If such Complaints are filed/refiled within thirty days of their return, they shall be deemed to have been filed within the time prescribed by law, unless the initial or prior filing was itself time barred.

•
268. PREVENTION OF CORRUPTION ACT, 1988 – Section 17

Part of investigation had been carried out by A.S.I. – Not authorized officer as per section 17 of the Act – Accused was not able to show any serious prejudice – Not fatal for prosecution.

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 – धारा 17

अनुसंधान का एक भाग सहायक उप निरीक्षक द्वारा पूरा किया गया जो कि अधिनियम की धारा 17 के अनुसार प्राधिकृत अधिकारी नहीं था – अभियुक्त यह दर्शाने में समर्थ नहीं रहा कि उसके हितों पर इसका प्रतिकूल असर पड़ा है – यह (ऐसा अनुसंधान) अभियोजन के लिए घातक नहीं है।

Narinder Singh v. State of Himachal Pradesh

Judgment dated 25.07.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No.1564 of 2014, reported in 2014 (3) Crimes 276 (SC)

Extracts from the judgment:

The impugned judgment reveals that the High Court discussed the evidence of the prosecution witnesses as also the evidence of the defence witnesses. On analyzing the entire evidence, the High Court recorded a conclusive finding about the guilt of the appellant/accused. It is evident that PW-7 Prem Chand who was posted as ASI/IO in the Bharmoru Police Station requested the SHO at Chamba to depute a gazetted officer to investigate the matter. Even if the part of investigation had been carried out by PW-7, it cannot be said to be illegal. Nothing has been said from the side of the defence that serious prejudice was caused to the accused by reason of the investigation carried out.

The High Court rightly pointed out that Bharmour being a tribal area, there is a single line administration and lot of power is vested with the Resident Commissioner since the heads of various departments or competent authorities are not available in Bharmour, and at that time the ADM/complainant was also the Resident Commissioner, Bharmour.

•
***269. PREVENTION OF CORRUPTION ACT, 1988 – Section 19**

M.P. MUNICIPAL CORPORATION ACT, 1956 – Section 58 and 424

Accused was Assistant Engineer in the Municipal Corporation getting salary of more than Rs. 400/-p.m. – Who is the competent authority to grant sanction for prosecution in that case?

Under Section 58 of the M.P. Municipal Corporation Act, 1956 the Standing Committee is the competent authority for appointment in any post in the municipality having salary of more than Rs. 400/- p.m. – The Administrator is only an ad hoc arrangement made by the Government u/s 424 of the Act of 1956 when an elected committee is superseded or dissolved.

The accused was appointed, when the Municipal Corporation was ruled by the Administrator.

The authority competent to remove an office is the competent authority to grant sanction for prosecution, so the Standing Committee, not the Administrator, is the competent authority to grant sanction for prosecution.

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 – धारा 19

म.प्र. नगर पालिका निगम अधिनियम, 1956 – धारा 58 अभियुक्त नगर पालिक निगम में 400 रुपये प्रतिमाह वेतन पाने वाला सहायक यंत्री था। अभियोजन की स्वीकृति देने के लिए सक्षम प्राधिकारी कौन होगा ?

धारा 58 म.प्र. नगर पालिक निगम अधिनियम, 1956 के तहत स्थायी समिति नगर पालिका में 400 रुपये से अधिक वेतन पाने वाले किसी भी पद के लिए नियुक्ति देने के लिए सक्षम प्राधिकारी होती है।

प्रशासक धारा 424 अधिनियम, 1956 के तहत शासन द्वारा केवल एडहॉक व्यवस्था के तहत होता है जब चुनी गयी समिति या तो विघटित हो जाती है या निलम्बित हो जाती है।

अभियुक्त की नियुक्ति हुई उस समय नगर पालिक निगम पर प्रशासक कार्यरत था। वह प्राधिकारी जो पद से हटाने के लिए सक्षम हो वहीं अभियोजन चलाने की स्वीकृति देने के लिए सक्षम होता है, अतः स्थायी समिति न कि प्रशासक, अभियोजन चलाने की स्वीकृति देने के लिए सक्षम प्राधिकारी है।

P. L. Tatwal v. State of M.P.

Judgment dated 19.02.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 456 of 2014, reported in AIR 2014 SC 2369

•

270. PUBLIC GAMBLING ACT, 1867 – Section 4 (M.P. Amendment)

Investigation officer seized some slips on which numbers were written – He has not given any evidence that the slips were related to gaming or Worli Matakas and what was the meaning of such words and figures? Offence held not proved.

लोक द्यूत अधिनियम, 1867 – धारा 4 (म.प्र. संशोधन)

अन्वेषण अधिकारी ने कुछ पर्चियां जप्त की जिन पर कुछ अंक लिखे हुए थे। उसने कोई साक्ष्य नहीं दी कि पर्चियां द्यूत या वरली मटका से संबंधित है और अंकों का क्या अर्थ है ? अपराध प्रमाणित नहीं पाया गया।

Yusuf Khan v. State of Madhya Pradesh

Order dated 06.05.2014 passed by the High Court of M.P. in Criminal Revision No. 834 of 2000, reported in 2014 Cri.L.J. 2927(M.P.)

Extracts from the order:

If it is considered that the applicant has committed an offence under Section 4-A of the Public Gambling Act then it was for the Head Constable Shiv bahadur singh to show that those seized satta slips were related to gaming or Worli Matkas and what was the meaning of such words and figures? By simple seizure of some slips on which numbers were written, then by such slips it cannot be said that those slips are published by the applicant in relating to Worli Matkas or any other form of gaming. Under such circumstances, the applicant could not be convicted for offence under Section 4A of the Public Gambling Act because it was not proved beyond doubt that he published digits, figures etc. relating to Worli Matkas or other form of gaming. It appears that the learned Magistrate as well as the learned Additional Sessions Judge did not go through the Provisions of Section 4A of the (M.P. Amendment) Public Gambling Act before framing of the Charges or preparation of the judgment.

•

***271. REGISTRATION ACT, 1908 – Section 17**

SUCCESSION ACT, 1925 – Section 63

Registered Will, effect of – Law explained – Though registration of Will is not required under any law, if Will is registered, it shall be presumed that the date and time on which it was registered are correct and there can be no suspicion of its being ante dated.

पंजीकरण अधिनियम, 1908 – धारा 17

उत्तराधिकारी अधिनियम, 1925 – धारा 63

पंजीकृत वसीयत का प्रभाव – विधि स्पष्ट की गयी – यद्यपि वसीयत का पंजीकरण विधि में आवश्यक नहीं है, फिर भी यदि वह पंजीकृत है, तो यह उपधारित किया जायेगा की वह तारीख और समय जिस पर उसका पंजीकरण हुआ था वह सही है और उसके पूर्व दिनांकित होने को लेकर कोई संदेह नहीं किया जा सकता।

Datar Singh Kaurav v. Pushpendra Singh Kaurav

Judgment dated 07.08.2013 passed by the High Court of M.P. in First Appeal No. 56 of 2000, reported in 2014 (3) MPLJ 378

•

272. RIGHT TO FAIR COMPENSATION AND TRANSPARENCY IN LAND ACQUISITION, REHABILITATION AND RESETTLEMENT ACT, 2013 – Section 24 (2)

LAND ACQUISITION ACT, 1894 – Sections 18 and 31

Expression ‘compensation has not been paid’ u/s 24 (2) of the Act of 2013, meaning of – For the purpose of section 24 (2), the compensation shall be regarded as paid if the compensation

has been offered to the person interested and such compensation has been deposited in the court where reference u/s 18 of the Act of 1894 can be made on happening of any of the contingencies contemplated under section 31 (2) of the Act of 1894.

भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1984 – धारा 18 और 31

ऋजु प्रतिकर का अधिकार और भूमि अधिग्रहण में पारदर्शिता, पुर्नवास और पुनः स्थापना अधिनियम, 2013 – धारा 24 (2) शब्द “ प्रतिकर भुगतान नहीं किया गया” धारा 24 (2) अधिनियम 2013 का अर्थ – धारा 24 (2) अधिनियम 2013 का अर्थ – धारा 24 (2) के उद्देश्य से प्रतिकर भुगतान किया गया यदि प्रतिकर संबंधित व्यक्ति को प्रस्तावित किया गया हो और ऐसा प्रतिकर उस न्यायालय में जमा करवाया जा चुका हो जहाँ से धारा 18 अधिनियम 1894 के तहत रेफरेन्स किया जा सकता है यदि धारा 31 (2) अधिनियम 1894 में उल्लेखित कोई आकस्मिकता हो।

Pune Municipal Corporation and another v. Harakchand Misirimal Solanki and others

Judgment dated 24.01.2014 passed by the Supreme Court in Civil Appeal No. 877 of 2014, reported in 2014 (3) MPLJ 294 (SC) (Three Judge Bench)

Extracts from the judgment:

Section 24 (2) begins with non obstante clause. This provision has overriding effect over section 24 (1). Section 24 (2) enacts that in relation to the land acquisition proceedings initiated under 1894 Act, where an award has been made five years or more prior to the commencement of the 2013 Act and either of the two contingencies is satisfied, viz; (i) physical possession of the land has not been taken or (ii) the compensation has not been paid, such acquisition proceedings shall be deemed to have lapsed. On the lapse of such acquisition proceedings, if the appropriate government still chooses to acquire the land which was the subject-matter of acquisition under the 1894 Act then it has to initiate the proceedings afresh under the 2013 Act. The proviso appended to section 24 (2) deals with a situation where in respect of the acquisition initiated under the 1894 Act an award has been made and compensation in respect of a majority of land holdings has not been deposited in the account of the beneficiaries then all the beneficiaries specified in section 4 notification become entitled to compensation under 2013 Act.

To find out the meaning of the expression, “compensation has not been paid”, it is necessary to have a look at section 31 of the 1894 Act. The said section, to the extent it is relevant, reads as follows:

31. *Payment of compensation or deposit of same in Court.* – (1) On making an award under section 11, the Collector shall tender payment of the compensation awarded by him to the persons interested

entitled thereto according to the award, and shall pay it to them unless prevented by some one or more of the contingencies mentioned in the next sub-section.

(2) If they shall not consent to receive it, or if there be no person competent to alienate the land, or if there be any dispute as to the title to receive the compensation or as to the apportionment of it, the Collector shall deposit the amount of the compensation in the Court to which a reference under section 18 would be submitted:

* * *

There is amendment in Maharashtra - Nagpur (City) in section 31 whereby in sub-section (1), after the words "compensation" and in sub-section (2), after the words, "the amount of compensation", the words "and costs if any" have been inserted. Section 31 (1) of the 1894 Act enjoins upon the Collector, on making an award under section 11, to tender payment of compensation to persons interested entitled thereto according to award. It further mandates the Collector to make payment of compensation to them unless prevented by one of the contingencies contemplated in sub-section (2). The contingencies contemplated in section 31 (2) are: (i) the persons interested entitled to compensation do not consent to receive it (ii) there is no person competent to alienate the land and (iii) there is dispute as to the title to receive compensation or as to the apportionment of it. If due to any of the contingencies contemplated in section 31 (2), the Collector is prevented from making payment of compensation to the persons interested who are entitled to compensation, then the Collector is required to deposit the compensation in the Court to which reference under section 18 may be made.

Simply put, section 31 of the 1894 Act makes provision for payment of compensation or deposit of the same in the Court. This provision requires that the persons interested who are entitled to compensation. If due to happening of any contingency as contemplated in section 31 (2), the compensation has not been paid, the Collector should deposit the amount of compensation in the Court to which reference can be made under section 18.

The mandatory nature of the provision in section 31 (2) with regard to deposit of the compensation in the Court is further fortified by the provisions contained in sections 32, 33 and 34. As a matter of fact, section 33 gives power to the Court, on an application by a person interested or claiming an interest in such money, to pass an order to invest the amount so deposited in such Government or other approved securities and may direct the interest or other proceeds of any such investment to be accumulated and paid in such manner as it may consider proper so that the parties interested therein may have the benefit therefrom as they might have had from the land in respect whereof such money shall have been deposited or as near thereto as may be.

While enacting section 24 (2), Parliament definitely had in its view section 31 of the 1894 Act. From that one thing is clear that it did not intend to equate the word "paid" to "offered" or "tendered". But at the same time, we do not think that by use of the word "paid" parliament intended receipt of compensation by the land-owners/persons interested. In our view, it is not appropriate to give a literal construction to the expression "paid" used in this sub-section (sub-section (2) of section 24). If a literal construction were to be given, then it would amount to ignoring procedure, mode and manner of deposit provided in section 31 (2) of the 1894 Act in the event of happening of any of the contingencies contemplated therein which may prevent the Collector from making actual payment of compensation. We are of the view, therefore, that for the purposes of section 24 (2), the compensation shall be regarded as "paid" if the compensation has been offered to the person interested and such compensation has been deposited in the Court where reference under section 18 can be made on happening of any of the contingencies contemplated under section 31 (2) of the 1894 Act. In other words, the compensation may be said to have been "paid" within the meaning of section 24 (2) when the Collector (or for that matter Land Acquisition Officer) has discharged his obligation and deposited the amount of compensation in Court and made that amount available to the interested person to be dealt with as provided in sections 32 and 33.

I

273. RIGHT TO FAIR COMPENSATION AND TRANSPARENCY IN LAND ACQUISITION, REHABILITATION AND RESETTLEMENT ACT, 2013 – Section 24 (3)

LAND ACQUISITION ACT, 1894 – Sections 5-A and 6(1)

- (i) Land acquisition proceeding initiated under old Land Acquisition Act, 1894, but the possession of acquired land not taken up to 07.05.2014 – Compensation amount deposited in the Revenue Department – That cannot be treated as deemed payment to the person interested – Period of 7 years lapsed without any stay of the proceeding – No action taken by the respondent – Therefore, proceeding must be deemed to have lapsed as per provision of section 24 (2) of the new Act of 2013.
- (ii) Right to person interested being heard is valuable right – Taken to fundamental right that can be taken away only for good and valid reason within the limitations under section 17 (4) of the Act.
- (iii) The Officer who has heard the objection, should only have to pass the order – If another officer is passing the order on objection, he needs fresh hearing.
- (iv) The recommendations after hearing under section 5-A made by the Collector to the Government should reflect the application of mind, then the Government is required to apply its mind on

such report and can take final decision on objection before making declaration under section 6 (1) of the Land Acquisition Act.

ऋजु प्रतिकर का अधिकार और भूमि अधिग्रहण में पारदर्शिता, पुर्नवास और पुनः स्थापना अधिनियम, 2013 – धारा 24 (3)

भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894 – धारा 5 ए

- (i) भूमि अधिग्रहण की कार्यवाही भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894 के तहत प्रारम्भ की गयी थी लेकिन अधिग्रहित भूमि का कब्जा 7/05/2014 तक नहीं लिया गया – प्रतिकर की राशि राजस्व विभाग में जमा करवा दी गयी उसे हितबद्ध व्यक्तियों को भुगतान करने के समान नहीं माना जा सकता है – कार्यवाही स्थगित नहीं थी फिर भी 7 वर्ष की अवधि निकल चुकी थी प्रत्यर्थागण ने कोई कार्यवाही नहीं की – कार्यवाही धारा 24 (2) अधिनियम, 2013 के अनुसार समाप्त हो जाना माना जाना चाहिए।
- (ii) हितबद्ध व्यक्तियों को सुनवायी का अधिकार मूल्यवान अधिकार है और यह मूलभूत अधिकार केवल अच्छे और विधिक कारणों से ही जैसा कि धारा 17 (4) अधिनियम में परिसीमित कारणों से लिया जा सकता है।
- (iii) अधिकारी जिसने आपत्तियां पर सुनवायी की हो उसे ही आदेश पारित करना चाहिए – यदि अन्य अधिकारी आपत्तियां पर आदेश पारित करता है तो उसे फिर से सुनवायी करना चाहिए।
- (iv) धारा 5-ए के तहत सुनवायी के पश्चात् कलेक्टर द्वारा शासन से की गयी अनुशंसाओं में मस्तिष्क का प्रयोग दिखना चाहिए उसके बाद शासन को ऐसे प्रतिवेदन पर अपने मस्तिष्क का प्रयोग करना चाहिए। धारा 6 (1) भूमि अधिग्रहण अधिनियम के तहत घोषणा के पूर्व आपत्तियां पर अंतिम निर्णय लेना चाहिए।

Union of India and others v. Shiv Raj and others

Judgment dated 07.05.2014 passed by the Supreme Court in Civil Appeal No. 5478 of 2014, reported in (2014) 6 SCC 564 (3-Judge Bench)

Extracts from the judgment

Section 5-A of the 1894 Act was not there in the original statute. In *J.E.D. Ezra v. Secy. of State for India (1902-1903) 7 CWN 249*, the Calcutta High Court expressed its inability to grant relief to the owner of the property whose land was sought to be acquired without giving any opportunity of hearing observing that there was no provision in the Act requiring observance of the principles of natural justice. It was subsequent to the said judgment that the Act was amended incorporating Section 5-A w.e.f. 1.1.1924. The Statement of Objects and Reasons for the said amendment provided that the original Act did not oblige the Government to enquire into and consider any objection of the persons interested nor the Act provided for right of hearing to the person whose interest stands adversely affected.

The rules of natural justice have been ingrained in the scheme of Section 5-A of the Act 1894 with a view to ensure that before any person is deprived of his land by way of compulsory acquisition, he must get an opportunity to oppose the decision of the State Government and/or its agencies/instrumentalities to acquire the particular parcel of land.

Section 5-A (2) of the Act 1894, which represents statutory embodiment of the rule of audi alteram partem, gives an opportunity to the objector to make an endeavour to convince the Collector that his land is not required for the public purpose specified in the notification issued under Section 4(1) of the Act 1894 or that there are other valid reasons for not acquiring the same. Thus, section 5-A of the Act 1894 embodies a very just and wholesome principle that a person whose property is being or is intended to be acquired should have a proper and reasonable opportunity of persuading the authorities concerned that acquisition of the property belonging to that person should not be made.

On the consideration of the said objection, the Collector is required to make a report. The State Government is then required to apply mind to the report of the Collector and take final decision on the objections filed by the landowners and other interested persons. Then and then only, a declaration can be made under Section 6(1) of the Act 1894.

Therefore, Section 5-A of the Act 1894 confers a valuable right in favour of a person whose lands are sought to be acquired. It is trite that hearing given to a person must be an effective one and not a mere formality.

Formation of opinion as regard the public purpose as also suitability thereof must be preceded by application of mind having due regard to the relevant factors and rejection of irrelevant ones. The State in its decision making process must not commit any misdirection in law. It is also not in dispute that Section 5-A of the Act, 1894 confers a valuable important right and having regard to the provisions, contained in Article 300A of the Constitution of India has been held to be akin to a fundamental right.

Thus, the limited right given to an owner/person interested under Section 5-A of the Act, 1894 to object to the acquisition proceedings is not an empty formality and is a substantive right, which can be taken away only for good and valid reason and within the limitations prescribed under Section 17(4) of the Act, 1894.

In view of the above, the law on the issue can be summarised to the effect that the very person/officer, who accords the hearing to the objector must also submit the report/ take decision on the objection and in case his successor decides the case without giving a fresh hearing, the order would stand vitiated having been passed in violation of the principles of natural justice.

It is evident from the record that in respect of a major chunk of land which stood covered under the same Section 4 notification, the land acquisition proceedings had been quashed in a batch of 74 Writ Petitions having been filed

before the Delhi High Court and the appellants, for the reasons best known to them, did not challenge the same and resultantly, the same has attained finality. For about a decade following the said judgment in **B. R. Gupta v. Union of India, (1989) 37 DLT 150**, proceedings in other cases have also been quashed and those decisions have not been challenged and have thus, also attained finality. A large number of cases filed before this court and particularly SLP (C) Nos. 208, 211 & 212 of 2008 stood dismissed vide order dated 10.12.2008, as the petitioners did not take steps to serve the respondents therein as is evident from the Office Report dated 25.6.2013. In such a fact scenario, where in respect of major chunk of land, the land acquisition proceedings had been quashed long back and which has attained finality, it is beyond our comprehension as to whether the scheme of planned development of Delhi can be executed at such a belated stage in view of the fact that vacant land in continuous stretch may not be available.

In view of above, we do not see any force in these appeals even on merit and the same are liable to be dismissed. In view of the findings and particularly in view of the interpretations given to Section 24(2) of the Act 2013 in the judgments referred to herein above, it is not necessary to entertain any other ground whatsoever at the behest of the appellants. Thus, the appeals are devoid of any merit and are dismissed. No order as to costs.

•

274. RIGHT TO FAIR COMPENSATION AND TRANSPARENCY IN LAND ACQUISITION, REHABILITATION AND RESETTLEMENT ACT, 2013 – Section 24 (3)

Land acquisition proceeding initiated under old Act of Land Acquisition Act, 1894 – Award passed but the physical possession of the land was not taken by the acquiring authority – Compensation neither paid to appellant land owner nor deposited before the appropriate forum – Proceeding deemed to have lapsed in terms of section 24 (2) of new Act of 2013.

ऋजु प्रतिकर का अधिकार और भूमि अधिग्रहण में पारदर्शिता, पुर्नवास और पुनः स्थापना अधिनियम, 2013 – धारा 24 (3)

भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894 के तहत भूमि अधिग्रहण की कार्यवाही प्रारंभ की गयी थी – अवार्ड पारित किया गया किन्तु भूमि का भौतिक आधिपत्य अधिग्रहण प्राधिकारी द्वारा नहीं लिया गया – प्रतिकर न तो अपीलार्थी भूमि स्वामी को भुगतान किया गया और न ही समुचित फोरम में जमा करवाया गया – कार्यवाही धारा 24 (2) अधिनियम 2013 के तहत समाप्त मानी जायेगी।

Bharat Kumar v. State of Haryana and another
Judgment dated 04.02.2014 passed by the Supreme Court in Civil Appeal No. 1971 of 2014, reported in (2014) 6 SCC 586

Extracts from the judgment:

To appreciate the contention raised by the learned counsel for the appellant, the said section is required to be extracted. Section 24 of the 2013 Act is as under:

“24. Land acquisition process under Act 1 of 1894 shall be deemed to have lapsed in certain cases. – (1) Notwithstanding anything contained in this Act, in any case of land acquisition proceedings initiated under the Land Acquisition Act, 1894 (1 of 1894) –

(a) where no award under Section 11 of the said Land Acquisition Act has been made, then, all provisions of this Act relating to the determination of compensation shall apply; or

(b) where an award under said Section 11 has been made, then such proceedings shall continue under the provisions of the said Land Acquisition Act, as if the said Act has not been repealed.

(2) Notwithstanding anything contained in sub-section (1), in case of land acquisition proceedings initiated under the Land Acquisition Act, 1894, where an award under the said section 11 has been made five years or more prior to the commencement of this Act but the physical possession of the land has not been taken or the compensation has not been paid the said proceedings shall be deemed to have lapsed and the appropriate Government, if it so chooses, shall initiate the proceedings of such land acquisition afresh in accordance with the provisions of this Act:

Provided that where an award has been made and compensation in respect of a majority of landholdings has not been deposited in the account of the beneficiaries, then, all beneficiaries specified in the notification for acquisition under Section 4 of the said Land Acquisition Act, shall be entitled to compensation in accordance with the provisions of this Act.”

Sub-section (2) of Section 24 commences with a non obstante clause. It is a beneficial provision. In view of this provisions, if the physical possession of the land has not been taken by the acquiring authority though the award is passed and if the compensation has not been paid to the landowners or has not been deposited before the appropriate forum, the proceedings initiated under the 1894 Act is deemed to have been lapsed.

Keeping the aforesaid provisions in view, we have specifically looked into the assertions made by the appellant and the way it is countered by the respondents. In our opinion though the award has been passed by the Land

Acquisition Collector, they have not taken the physical possession of the land and have not paid the compensation to the appellant or had deposited the said compensation before an appropriate forum.

In the view of the matter, in our considered opinion, sub-section (2) of Section 24 of the 2013 Act squarely applies to the appellant's case and the appellant is entitled to relief sought for in their petition.

[See also *Naresh Kumar v. State of Haryana and others*, (2014) 6 SCC 589]

•

275. SARFAESI ACT, 2002 – Sections 13, 14, 34, 35 and 37

TRANSFER OF PROPERTY ACT, 1882 – Sections 7, 8, 14, 111, 109, 65-A and 105

- (i) **Power of borrower to lease a mortgaged property – So long as the mortgage deed does not prohibit a mortgagor from making a lease of the mortgaged property and so long as the lease satisfies the requirements of sub-section (2) of Section 65-A, a lease made by a borrower as a mortgagor will not only be valid but is also binding on the secured creditor as a mortgagee – A lease of a secured asset made by the borrower after he receives the notice under sub-section (2) of Section 13 of SARFAESI ACT, 2002 from the secured creditor intending to enforce that secured asset will not be a valid lease.**
- (ii) **Provisions of the SARFAESI Act – Effect on the right of a lessee to remain in possession of the secured asset during the period of a lease – If such a lease is made, by virtue of Section 8 of the Transfer of Property Act, the lessee will have the right to enjoy the leased property in accordance with the terms and conditions of the lease irrespective of whether a subsequent mortgagee of the immovable property has knowledge of such a lease or not – So long as a lease of an immovable property does not get determined, the lessee has a right to enjoy the property and this right is a right to property and this right cannot be taken away without the authority of law as provided in Article 300-A of the Constitution – There is no provision in Section 13 of the SARFAESI Act that a lease in respect of a secured asset shall stand determined when the secured creditor decides to take the measures mentioned in Section 13 of the said Act – Without the determination of a valid lease, the possession of the lessee is lawful and such lawful possession of a lessee has to be protected by all courts and tribunals.**
- (iii) **Procedure when the secured creditor moves to the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate for assistance to take possession of the secured asset – A secured creditor must state in the affidavit accompanying that**

the secured asset, is not in possession of a lessee under the valid lease made prior to creation of the mortgage by the borrower or made in accordance with Section 65-A of the Transfer of Property Act prior to receipt of a notice under sub-section (2) of Section 13 of the SARFAESI Act by the borrower – Where Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate finds that the secured asset is in possession of a lessee but the lease under which the lessee claims to be in possession of the secured asset stands determined in accordance with Section 111 of the Transfer of Property Act, the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate may pass an order for delivery of possession of the secured asset in favour of the secured creditor to enable the secured creditor to sell and transfer the same under the provisions of the SARFAESI Act – Sub-section (6) of Section 13 of the SARFAESI Act provides that any transfer of secured asset after taking possession of secured asset by the secured creditor shall vest in the transferee all right in, or in relation to, the secured asset transferred as if the transfer had been made by the owner of such secured asset – In other words, the transferee of a secured asset will not acquire any right in a secured asset under sub-section (6) of Section 13 of the SARFAESI Act, unless it has been effected after the secured creditor has taken over possession of the secured asset – Thus, for the purpose of transferring the secured asset and for realising the secured debt, the secured creditor will require the assistance of the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate for taking possession of a secured asset from the lessee where the lease stands determined by any of the modes mentioned in Section 111 of the Transfer of Property Act.

- (iv) Remedies available to the lessee where he is threatened to be dispossessed by any action taken by the secured creditor under section 13 of the SARFAESI Act – Borrower may resist the attempt of the secured creditor to take the possession of the secured asset by producing before the authorised Officer, prove that he was inducted as a lessee prior to the creation of the mortgage or that he was a lessee under the mortgagor in accordance with the provisions of Section 65-A of the Transfer of Property Act, and the lessee does not stand determined in accordance with the Section 111 of the Transfer of Property Act – On such an application of the secured creditor, the authorised officer cannot evict the lessee by force but has to file an application before the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate under Section 14 of the SARFAESI Act and state in the affidavit accompanying the application, the name and address of

the person claim to be the lessee – After giving an opportunity of hearing to the person claiming to be the lessee as well as secured creditor, the Chief Judicial Magistrate or District Magistrate will decide the objection and if he decides in favour of borrower, then he cannot pass an order for delivery of possession of the secured asset to the secured creditor– Decision of the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate is final and cannot be challenged before any Court or any authority – It can be challenged before the High Court under Articles 226 and 227 of the Constitution by any agreed party.

- (v) Availability of remedies under the tenancy law concerning to the tenants of secured assets – When action is sought to be taken by the secured creditor under Section 13 of the SARFAESI Act or by the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate under Section 14 of the SARFAESI Act, the Court or the authority mentioned in Section 33 of the Maharashtra Rent Control Act cannot grant the injunction to prevent such action by the secured creditor or by the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate or even otherwise.

सरफेसाई एक्ट, 2002 – धारा 13, 14, 34, 35 और 37

सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 – धारा 7, 8, 14, 111, 109, 65–ए और 105

- (i) ऋणी की बंधक सम्पत्ति को पट्टे पर देने की शक्ति – जहाँ बंधक विलेख में बंधककर्ता को बंधक सम्पत्ति पट्टे पर देने के लिए निषेधित नहीं किया गया हो और पट्टा धारा 65 ए (2) सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की शर्तों को संतुष्ट करता हो वहाँ एक ऋणी द्वारा जो कि बंधककर्ता है उसके द्वारा किया गया पट्टा न केवल वैध होगा बल्कि बंधकग्रहिता पर आबद्धकारी भी होता है। ऋणी द्वारा धारा 13 (2) सरफेसी एक्ट, 2002 के अधीन सूचनापत्र ऋणदाता द्वारा सुरक्षित संपदा के संबंध में मिलने के बाद सुरक्षित सम्पत्ति का पट्टा किया जाना एक वैध पट्टा नहीं होगा।
- (ii) सरफेसी एक्ट के प्रावधान – पट्टे की अवधि में पट्टाग्रहिता के सुरक्षित सम्पत्ति के आधिपत्य में बने रहने के अधिकार पर प्रभाव – यदि ऐसा पट्टा धारा 8 सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम के द्वारा किया गया हो तो तो पट्टाग्रहिता को यह अधिकार होगा कि वे पट्टे की सम्पत्ति का उपभोग पट्टे की शर्तों के अधीन करे। चाहे अचल सम्पत्ति के बंधकग्रहिता को उक्त पट्टे की जानकारी हो या नहीं – जब तक की अचल सम्पत्ति के पट्टे का पर्यवसान न हो जाये तब तक पट्टाग्रहिता को पट्टे की सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार होता है यह अधिकार अनुच्छेद 300 ए भारतीय संविधान के अनुसार कानून के प्राधिकार के बिना नहीं लिया जा सकता – धारा 13 सरफेसी एक्ट में यह प्रावधान नहीं है कि एक सुरक्षित सम्पत्ति के बारे में किये गये पट्टे का पर्यवसान हो जायेगा जब

सुरक्षित ऋणदाता धारा 13 सरफेसी एक्ट के साधन प्रयोग में लेने का निर्णय लेता है – एक वैध पट्टे को समाप्त किये बिना पट्टाग्रहिता का कब्जा विधिक होता है। पट्टाग्रहिता के ऐसे विधिक आधिपत्य का सभी न्यायालयों और अधिकरणों द्वारा सुरक्षित करना चाहिए।

- (iii) जब सुरक्षित ऋणदाता सुरक्षित सम्पत्ति को आधिपत्य लेने के लिए जिला मजिस्ट्रेट या मुख्य महानगर मजिस्ट्रेट की सहायता मांगता है तब प्रक्रिया – सुरक्षित ऋणदाता को आवेदन में यह अभिकथन करना आवश्यक है कि सुरक्षित सम्पत्ति किसी वैध पट्टे के अधीन पट्टाग्रहिता के आधिपत्य में नहीं है और धारा 65 ए सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम के तहत ऋणी ने धारा 13 (2) सरफेसी एक्ट के तहत सूचना पत्र मिलने के पहले ऋणी ने कोई पट्टा नहीं किया है। यह तथ्य शपथ पत्र से समर्थित आवेदन में अभिकथित करना होंगे – जहां जिला मजिस्ट्रेट या मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट यह पाते हैं कि सुरक्षित सम्पत्ति पट्टाग्रहिता के कब्जे में है लेकिन पट्टे का धारा 111 सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम के तहत पर्यवसान हो चुका है जिला मजिस्ट्रेट या चीफ मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट सुरक्षित ऋणदाता के पक्ष में सुरक्षित सम्पत्ति का कब्जा सौंपने का आदेश कर सकते हैं। ताकि सुरक्षित ऋणदाता सम्पत्ति पर विक्रय और अन्तरण के लिए सरफेसी एक्ट के तहत समर्थ हो सके। धारा 13 (6) सरफेसी एक्ट के अनुसार सुरक्षित सम्पत्ति का सुरक्षित ऋणदाता द्वारा कब्जा लेने के बाद किया गया अन्तरण सुरक्षित सम्पत्ति के संबंध में अंतरिती को सारे अधिकार देता है। उसी तरह जैसे सम्पत्ति के स्वामी द्वारा किये गये अन्तरण में सभी अधिकार मिलते हैं। दूसरे शब्दों में अंतरिती को सुरक्षित सम्पत्ति पर कोई अधिकार धारा 13 (6) सरफेसी एक्ट के तहत नहीं मिलते जब तक की सुरक्षित ऋणदाता ने सुरक्षित सम्पत्ति का आधिपत्य लेकर उसे प्रभावी नहीं किया हो इस प्रकार सुरक्षित सम्पत्ति के अन्तरण के उद्देश्य से और सुरक्षित ऋण के वसूली के लिए सुरक्षित ऋणदाता को जिला मजिस्ट्रेट या चीफ मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट की सहायता कब्जा पट्टाग्रहिता से लेने के लिए आवश्यक है जहाँ पट्टे का पर्यवसान धारा 111 सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम के तहत नहीं हुआ है।
- (iv) सुरक्षित ऋणदाता द्वारा आधिपत्य विहीन किये जाने की धमकी देने पर पट्टाग्रहिता का उपलब्ध उपचार – धारा 14 सरफेसी एक्ट के तहत जिला मजिस्ट्रेट या चीफ मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट को आवेदन अधिकृत अधिकारी करेगा जबकि पट्टाग्रहिता उसके समक्ष आपत्ति करता है।
- (v) सुरक्षित सम्पत्ति के किरायेदार का किरायेदारी कानून के तहत उपलब्ध उपचार – जहां सुरक्षित ऋणदाता द्वारा धारा 13 सरफेसी एक्ट के तहत कार्यवाही की जाती है या धारा 14 सरफेसी एक्ट के तहत जिला मजिस्ट्रेट या चीफ मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट द्वारा कार्यवाही की जाती है तब धारा 33 महाराष्ट्र किराया नियंत्रण

अधिनियम में उल्लेखित प्राधिकारी या न्यायालय ऐसे सुरक्षित ऋणदाता या चीफ़ मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट या जिला मजिस्ट्रेट की कार्यवाही को रोकने के लिए कोई निषेधाज्ञा जारी नहीं करेगा – अन्यथा भी नहीं करेंगे।

Harshad Govardhan Sondagar v. International Assets Reconstruction Company Limited and others
Judgement dated 03.04.2014 passed by the Supreme Court in Criminal Appeal No. 736 of 2014, reported in (2014) 6 SCC 1

Extracts from the judgment:

The first question that we have to decide is whether the provisions of the SARFAESI Act have in any way affected the right of a lessee to remain in possession of the secured asset during the period of a lease.

A “secured asset” has been defined in Section 2 (zc) of the SARFAESI Act to mean the property on which the security interest is created.

In case of an immovable property, a security interest is created in a secured asset by way of a mortgage in favour of the secured creditor. There may be cases where before the mortgage is created in respect of an immovable property, the borrower had already leased out the immovable property in favour of a lessee either as the owner or as a person competent or authorised to transfer the immovable property in accordance with Section 7 of the Transfer of Property Act. If such a lease is made, by virtue of Section 8 of the Transfer of Property Act, the lessee will have the right to enjoy the leased property in accordance with the terms and conditions of the lease irrespective of whether a subsequent mortgagee of the immovable property has knowledge of such a lease or not.

After the mortgage of an immovable property is created by the borrower in favour of a secured creditor, the right of the borrower to lease a mortgaged property is regulated by Section 65-A of the Transfer of Property Act. Section 65-A of the Transfer of Property Act is extracted hereinbelow:

“65-A. Mortgagor’s power to lease.- (1) Subject to the provisions of subsection (2), a mortgagor, while lawfully in possession of the mortgaged property, shall have power to make leases thereof which shall be binding on the mortgagee.

(2)(a) Every such lease shall be such as would be made in the ordinary course of management of the property concerned, and in accordance with any local law, custom or usage.

(b) Every such lease shall reserve the best rent that can reasonably be obtained, and no premium shall be paid or promised and no rent shall be payable in advance.

(c) No such lease shall contain a covenant for renewal.

(d) Every such lease shall take effect from a date not later than six months from the date on which it is made.

(e) In the case of a lease of buildings, whether leased with or without the land on which they stand, the duration of the lease shall in no case exceed three years, and the lease shall contain a covenant for payment of the rent and condition of re-entry on the rent not being paid within a time therein specified.

(3) The provisions of sub-section (1) apply only if and as far as a contrary intention is not expressed in the mortgage deed; and the provisions of subsection (2) may be varied or extended by the mortgage deed and, as so varied and extended, shall, as far as may be, operate in like manner and with all like incidents, effects and consequences, as if such variations or extensions were contained in that sub-section.”

Thus, sub-section (1) of Section 65-A of the Transfer of Property Act states that the mortgagor has the power to make lease of a mortgaged property while he is in lawful possession of the same subject to the provisions of sub-section (2) of Section 65-A of the Transfer of Property Act and such lease is binding on the mortgagee. Sub-section (3) of Section 65-A further provides that such a power is available with the mortgagor to make a lease of the mortgaged property only if and as far as a contrary intention is not expressed in the mortgage deed. Thus, so long as the mortgage deed does not prohibit a mortgagor from making a lease of the mortgaged property and so long as the lease satisfies the requirements of sub-section (2) of Section 65-A, a lease made by a borrower as a mortgagor will not only be valid but is also binding on the secured creditor as a mortgage.

We may now consider whether the provisions of the SARFAESI Act have the effect of terminating these valid leases made by the borrower or the mortgagor made in accordance with the provisions of the Transfer of Property Act. Section 35 of the SARFAESI Act, on which the High Court has placed reliance in *Trade Well v. Indian Bank, 2007 Cri LJ 2544 (Bom)* as well as in the impugned judgment *International Asset Reconstruction Co. (P) Ltd v. Union of India, (2011) 5 Bom LR 3080: AIR 2011 Bom 163*.

“35. *The provisions of this Act to override other laws.-* The provisions of this Act shall have effect, notwithstanding anything inconsistent therewith contained in any other law for the time being in force or any instrument having effect by virtue of any such law.”

Section 35 of the SARFAESI Act, therefore, provides that the provisions of the SARFAESI Act shall have effect, notwithstanding anything inconsistent therewith contained in any other law for the time being in force. Thus, if there is any provision in the SARFAESI Act and if there is any provision in any other law which is inconsistent therewith, the provision of the SARFAESI Act will have effect and not the provision of any other law.

The only section in the SARFAESI Act which confers a statutory right on the secured creditor to take possession of the secured asset and enforce the secured asset for the realisation of the secured debt is Section 13. We will, therefore, have to find out whether there is any provision in Section 13 of the SARFAESI Act which is inconsistent with the right of a borrower or a mortgagor to make a lease in accordance with the provisions of the Transfer of Property Act and the corresponding right of a lease to remain in possession of the property leased out to him during the period of a lease.

Section 13 of the SARFAESI Act is extracted hereinbelow:

“13. Enforcement of security interest.- (1) Notwithstanding anything contained in Section 69 or Section 69-A of the Transfer of Property Act, 1882 (4 of 1882), any security interest created in favour of any secured creditor may be enforced, without the intervention of the court or tribunal, by such creditor in accordance with the provisions of this Act.

(2) Where any borrower, who is under a liability to a secured creditor under a security agreement, makes any default in repayment of secured debt or any instalment thereof, and his account in respect of such debt is classified by the secured creditor as non-performing asset, then, the secured creditor may require the borrower by notice in writing to discharge in full his liabilities to the secured creditor within sixty days from the date of notice failing which the secured creditor shall be entitled to exercise all or any of the rights under sub-section (4).

(3) The notice referred to in sub-section (2) shall give details of the amount payable by the borrower and the secured assets intended to be enforced by the secured creditor in the event of non-payment of secured debts by the borrower.

(3-A) If, on receipt of the notice under sub-section (2), the borrower makes any representation or raise objection, the secured creditor shall consider such representation or objection and if the secured creditor comes to the conclusion that such representation or objection is not acceptable or tenable, he shall communicate within fifteen days of receipt of such representation or objection the reasons for non-acceptance of the representation or objection to the borrower:

Provided that the reasons so communicated or the likely action of the secured creditor at the stage of communication of reasons shall not confer any right upon the borrower to prefer an application to the Debts Recovery Tribunal under

17 or the Court of District Judge under Section 17-A.

(4) In case the borrower fails to discharge his liability in full within the period specified in sub-section (2), the secured creditor may take recourse to one or more of the following measures to recover his secured debt, namely-

(a) take possession of the secured assets of the borrower including the right to transfer by way of lease, assignment or sale for realising the secured asset;

(b) take over the management of the business of the borrower including the right to transfer by way of lease, assignment or sale for realising the secured asset.

Provided that the right to transfer by way of lease, assignment or sale shall be exercised only where the substantial part of the business of the borrower is held as security for the debt.

Provided further that where the management of whole of the business or part of the business is severable, the secured creditor shall take over the management of such business of the borrower which is relatable to the security for the debt;

(c) appoint any person (hereafter referred to as the manager), to manage the secured assets the possession of which has been taken over by the secured creditor;

(d) require at any time by notice in writing, any person who has acquired any of the secured assets from the borrower and from whom any money is due or may become due to the borrower, to pay the secured creditor, so much of the money as is sufficient to pay the secured debt.

(5) Any payment made by any person referred to in clause (d) of subsection (4) to the secured creditor shall give such person a valid discharge as if he has made payment to the borrower.

(5-A) Where the sale of an immovable property, for which a reserve price has been specified, has been postponed for what of a bid of an amount not less than such reserve price, it shall be lawful for any officer of the secured creditor, if so authorised by the secured creditor in this behalf, to bid for the immovable property on behalf of the secured creditor at any subsequent sale.

(5-B) Where the secured creditor, referred to in sub-section (5-A), is declared to be the purchaser of the immovable

property at any subsequent sale, the amount of the purchase price shall be adjusted towards the amount of the claim of the secured for which the auction of enforcement of security interest is taken by the secured creditor, under sub-section (4) of Section 13.

(5-C) The provisions of Section 9 of the Banking Regulation Act, 1949 (10 of 1949) shall, as far as may be, apply to the immovable property acquired by secured creditor under sub-section (5-A).

(6) Any transfer of secured asset after taking possession thereof or take over of management under sub-section (4), by the secured creditor or by the manager on behalf of the secured creditor shall vest in the transferee all rights in, or in relation to, the secured asset transferred as if the transfer had been made by the owner of such secured asset.

(7) Where any action has been taken against a borrower under the provisions of sub-section (4), all costs, charges and expenses which, in the opinion of the secured creditor, have been properly incurred by him or any expenses incidental thereto, shall be recoverable from the borrower and the money which is received by the secured creditor shall, in the absence of any contract to the contrary, be held by him in trust, to be applied, firstly, in payment of such costs, charges and expenses and secondly, in discharge of the dues of the secured creditor and the residue of the money so received shall be paid to the person entitled thereto in accordance with his rights and interests.

(8) If the dues of the secured creditor together with all costs, charges and expenses incurred by him are tendered to the secured creditor at any time before the date fixed for sale or transfer, the secured asset shall not be sold or transferred by the secured creditor, and no further step shall be taken by him for transfer or sale of that secured asset.

(9) In the case of financing of a financial asset by more than one secured creditors or joint financing of a financial asset by secured creditors, no secured creditor shall be entitled to exercise any or all of the rights conferred on him under or pursuant to sub-section (4) unless exercise of such right is agreed upon by the secured creditors representing not less than sixty per cent in value of the amount outstanding as on a record date such action shall be binding on all the secured creditors:

Provided that in the case of a company in liquidation, the amount realised from the sale of secured assets shall be distributed in accordance with the provisions of Section 529-A of the Companies Act, 1956 (1 of 1956):

Provided further that in the case of a company being wound up on or after the commencement of this Act, the secured creditor of such company, who opts to realise his security instead of relinquishing his security and proving his debt under proviso to sub-section (1) of Section 529 of the Companies Act, 1956 (1 of 1956), may retain the sale proceeds of his secured assets after depositing the workmen's dues with the liquidator in accordance with the provisions of Section 529-A of that Act:

Provided also that liquidator referred to in the second proviso shall intimate the secured creditor the workmen's dues in accordance with the provisions of Section 529-A of the Companies Act, 1956 (1 of 1956) and in case such workmen's dues cannot be ascertained, the liquidator shall intimate the estimated amount of workmen's dues under that section to the secured creditor and in such case the secured creditor may retain the sale proceeds of the secured after depositing the amount of such estimated dues with the liquidator:

Provided also that in case the secured creditor deposits the estimated amount of workmen's dues, such creditor shall be liable to pay the balance of the workmen's dues or entitled to receive the excess amount, if any, deposited by the secured creditor with the liquidator:

Provided also that the secured creditor shall furnish an undertaking to the liquidator to pay the balance of the workmen's dues, if any.

Explanation. – For the purposes of this sub-section-

(a) '**record date**' means the date agreed upon by the secured creditors representing not less than three-fourth in value of the amount outstanding on such date;

(b) '**amounting outstanding**' shall include principal, interest and any other dues payable by the borrower to the secured creditor in respect of secured asset as per the books of account of the secured creditor.

(10) Where dues of the secured creditor are not fully satisfied with the sale proceeds of the secured assets, the secured creditor may file an application in the form and manner as may be prescribed to the Debts Recovery Tribunal having jurisdiction or a competent court, as the case may be, for recovery of the balance amount from the borrower.

(11) Without prejudice to the rights conferred on the secured creditor under or by this section, the secured creditor shall be entitled to proceed against the guarantors or sell the pledged assets without first taking any of the measures

specified in clauses (a) to (d) of sub-section (4) in relation to the secured assets under this Act.

(12) The rights of a secured creditor under this Act may be exercised by one or more of his officers authorised in this behalf in such manner as may be prescribed.

(13) No borrower shall, after receipt of notice referred to in sub-section (2), transfer by way of sale, lease or otherwise (other than in the ordinary course of his business) any of his secured assets referred to in the notice, without prior written consent of the secured creditor.”

When we read the different provisions of Section 13 of the SARFAESI Act extracted above, we find that sub-section (4) of Section 13 provides that in case the borrower fails to discharge his liability in full within sixty days from the date of notice, as provided in sub-section (2) of Section 13 of the SARFAESI Act, the secured creditor may take recourse to one or more of the measures mentioned therein to recover his secured debt. One of the measures mentioned in clause (a) in sub-section (4) of Section 13 of the SARFAESI Act is to take possession of the secured assets of the borrower including the right to transfer by way of lease. Where, however, the lawful possession of the secured asset is not with the borrower, but with the lessee under a valid lease, the secured creditor cannot take over possession of the secured asset until the lawful possession of the lessee gets determined. There is, however, no mention in sub-section (4) of Section 13 of the SARFAESI Act that a lease made by the borrower in favour of a lessee will stand determined on the secured creditor deciding to take any of the measures mentioned in Section 13 of the said Act. Sub-section (13) of Section 13 of the SARFAESI Act, however, provides that after receipt of notice referred to in sub-section (2) of Section 13 of the SARFAESI Act, no borrower shall lease any of his secured assets referred to in the notice, without the prior written consent of the secured creditor. This provision in sub-section (13) of Section 13 of the SARFAESI Act and the provisions of the Transfer of Property Act enabling the borrower or the mortgagor to make a lease are inconsistent with each other. Hence, sub-section (13) of Section 13 of the SARFAESI Act will override the provisions of Section 65-A of the Transfer of Property Act by virtue of Section 35 of the SARFAESI Act, and a lease of a secured asset made by the borrower after he receives the notice under sub-section (2) of Section 13 from the secured creditor intending to enforce that secured asset will not be a valid lease.

We may now consider the nature of the right of the lessee and as to when the lease under the Transfer of Property Act gets determined. Sections 105 and 111 of the Transfer of Property Act, which are relevant in this regard, are quoted hereinbelow:

105. Lease defined.- A lease of immovable property is a transfer of a right to enjoy such property, made for a certain time, express or implied, or in perpetuity, in consideration of a price paid or promised, or of money, a share of crops, service or any other thing of value, to be rendered periodically or on specified occasions to the transferor by the transferee, who accepts the transfer on such terms.

Lessor, lessee, premium and rent defined.- The transferor is called the lessor, the transferee is called the lessee, the price is called the premium, and the money, share, service or other thing so rendered is called the rent.

* * *

111. Determination of lease.- A lease of immovable property, determines-

- (a) by efflux of the time limited thereby;
- (b) where such time is limited conditionally on the happening of some event-by the happening of such event;
- (c) where the interest of the lessor in the property terminates on, or his power to dispose of the same extends only to, the happening of any event-by the happening of such event;
- (d) in case the interests of the lessee and the lessor in the whole of the property become vested at the same time in one person in the same right;
- (e) by express surrender, that is to say, in case the lessee yields up his interest under the lease to the lessor, by mutual agreement between them;
- (f) by implied surrender;
- (g) by forfeiture, that is to say, (1) in case the lessee breaks an express condition which provides that, on breach thereof, the lessor may re-enter; or
(2) in case the lessee renounces his character as such by setting up a title in a third person or by claiming title in himself; or (3) the lessee is adjudicated an insolvent and the lease provides that the lessor may re-enter on the happening of such event; and in any of these cases the lessor or his transferee gives notice in writing to the lessee

of his intention to determine the lease;

(h) on the expiration of a notice to determine the lease, or to quit, or of intention to quit, the property leased, duly given by one party to the other.”

Section 105 thus provides that a lessee of an immovable property has a right to enjoy such property, for a certain time or in perpetuity when a lessor leases an immovable property transferring his right to enjoy such property for a certain time or in perpetuity. Section 111 of the Transfer of Property Act, 1882 provides the different modes by which a lease gets determined. Thus, so long as a lease of an immovable property does not get determined, the lessee has a right to enjoy the property and this right is a right to property and this right cannot be taken away without the authority of law as provided in Article 300-A of the Constitution. As we have noticed, there is no provision in Section 13 of the SARFAESI Act that a lease in respect of a secured asset shall stand determined when the secured creditor decides to take the measures mentioned in Section 13 of the said Act. Without the determination of a valid lease, the possession of the lessee is lawful and such lawful possession of a lessee has to be protected by all courts and tribunals.

We may now look at the provisions of Section 14 of the SARFAESI Act to find out whether it confers any power on the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate to assist the secured creditor in taking possession of the secured asset which is in lawful possession of the lessee under a valid lease.

Section 14 of the SARFAESI Act is extracted hereinbelow:

“14. Chief Metropolitan Magistrate or District Magistrate to assist secured creditor in taking possession of secured asset.-

(1) Where the possession of any secured assets is required to be taken by the secured creditor or if any of the secured assets is required to be sold or transferred by the secured creditor under the provisions of this Act, the secured creditor may, for the purpose of taking possession or control of any such secured assets, request, in writing, the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate within whose jurisdiction any such secured asset or other documents relating thereto may be situated or found, to take possession thereof, and the Chief Metropolitan Magistrate or, as the case may be, the District Magistrate shall, on such request being made to him –

(a) take possession of such asset and documents relating thereto; and

(b) forward such asset and documents to the secured creditor:

Provided that any application by the secured creditor shall be accompanied by an affidavit duly affirmed by the authorised officer of the secured creditor, declaring that –

(i) the aggregate amount of financial assistance granted and the total claim of the bank as on the date of filing the application;

(ii) the borrower has created security interest over various properties and that the bank or financial institution is holding a valid and subsisting security interest over such properties and the claim of the bank or financial institution is within the limitation period;

(iii) the borrower has created security interest over various properties giving the details referred to in sub-clause (ii) above;

(iv) the borrower has committed default in repayment of the financial assistance granted aggregating the specified amount;

(v) consequent upon such default in repayment of the financial assistance the account of the borrower has been classified as a non-performing asset;

(vi) affirming that the period of sixty days' notice as required by the provisions of sub-section (2) of Section 13, demanding payment of the defaulted financial assistance has been served on the borrower;

(vii) the objection or representation in reply to the notice received from the borrower has been considered by the secured creditor and reasons for nonacceptance of such objection or representation had been communicated to the borrower;

(viii) the borrower has not made any repayment of the financial assistant in spite of the above notice and the authorised officer is, therefore, entitled to take possession of the secured assets under the provisions of sub-section (4) of Section 13 read with Section 14 of the principal Act;

(ix) that the provisions of this Act and the Rules made thereunder had been complied with:

Provided further that on receipt of the affidavit from the authorised officer, the District Magistrate or the Chief Metropolitan Magistrate, as the case may be, shall after satisfying the contents of the affidavit pass suitable orders for the purpose of taking possession of the secured assets:

Provided also that the requirement of filing affidavit stated in the first proviso shall not apply to proceeding pending before any District Magistrate or the Chief Metropolitan Magistrate, as the case may be, on the date of commencement of this Act.

(1-A) The District Magistrate or the Chief Metropolitan Magistrate may authorise any officer subordinate to him-

(i) to take possession of such assets and documents relating thereto; and (ii) to forward such assets and documents to the secured creditor.

(2) For the purpose of securing compliance with the provisions of subsection (1), the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate may take or cause to be taken such steps and use, or cause to be used, such force, as may, in his opinion, be necessary.

(3) No act of the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate done in pursuance of this section shall be called in question in any court or before any authority.”

The opening words of sub-section (1) of Section 14 of the SARFAESI Act make it clear that where the possession of any secured assets is required to be taken by the secured creditor or if any of the secured assets is required to be sold or transferred by the secured creditor “under the provisions of the Act”, the secured creditor may, for the purpose of taking possession or control of any such secured asset, request, in writing, the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate within whose jurisdiction any such secured asset or other document relating thereto may be situated or found, to take possession thereof. Thus, only if possession of the secured asset is required to be taken under the provisions of the SARFAESI Act, the secured creditor can move the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate for assistance to take possession of the secured asset. We have already held that Section 13 of the SARFAESI Act does not provide that the lease in respect of a secured asset will get determined when the secured creditor decides to take the measures in the said section. Hence, possession of the secured asset from a lessee in lawful possession under a valid lease is not required to be taken under the provisions of the SARFAESI Act and the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate, therefore, does not have any power under Section 14 of the SARFAESI Act to take possession of the secured asset from such a lessee and hand over the same to the secured creditor. When, therefore, a secured creditor moves the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate for assistance to take possession of the secured asset, he must state in the affidavit accompanying the application that the secured asset, is not in possession of a lessee under the valid lease made prior to creation of the mortgage by the

borrower or made in accordance with Section 65-A of the Transfer of Property Act prior to receipt of a notice under sub-section (2) of Section 13 of the SARFAESI Act by the borrower. We would like to clarify that even in such cases where the secured creditor is unable to take possession of the secured asset after expiry of the period of 60 days of the notice to the borrower of the intention of the secured creditor to enforce the secured asset to realise the secured debt, the secured creditor will have the right to receive any money due or which may become due, including rent, from the lessee to the borrower. This will be clear from clause (d) of sub-section (4) of Section 13, which provides that in case the borrower fails to discharge his liability in full within the notice period, the secured creditor may require, at any time by notice in writing, any person who has acquired any of the assets from the borrower and from whom any money is due or may become due to the borrower, to pay the secured creditor, so much of the money as is sufficient to pay the secured debt.

The opening words of sub-section (1) of the SARFAESI Act also provides that if any of the secured assets is required to be sold or transferred by the secured creditor under the provisions of the Act, the secured creditor may take the assistance of the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate. Where, therefore, such a request is made by the secured creditor and the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate finds that the secured asset is in possession of a lessee but the lease under which the lessee claims to be in possession of the secured asset stands determined in accordance with Section 111 of the Transfer Property Act, the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate may pass an order for delivery of possession of secured asset in favour of the secured creditor to enable the secured creditor to sell and transfer the same under the provisions of the SARFAESI Act. Sub-section (6) of Section 13 of the SARFAESI Act provides that any transfer of secured asset after taking possession of secured asset by the secured creditor shall vest in the transferee all right in, or in relation to, the secured asset transferred as if the transfer had been made by the owner of such secured asset. In other words, the transferee of a secured asset will not acquire any right in a secured asset under sub-section (6) of Section 13 of the SARFAESI Act, unless it has been effected after the secured creditor has taken over possession of the secured asset. Thus, for the purpose of transferring the secured asset and for realising the secured debt, the secured creditor will require the assistance of the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate for taking possession of a secured asset from the lessee where the lease stands determined by any of the modes mentioned in Section 111 of the Transfer of Property Act.

We may now deal with the remedies available to the lessee where he is threatened to be dispossessed by any action taken by the secured creditor under Section 13 of the SARFAESI Act. Sub rules (1) and (2) of Rule 8 of the Security Interest (Enforcement) Rules, 2002 provide for a possession notice where the secured asset is an immovable property. Sub-rules (1), (2)

and (3) of Rule 8 of the Security Interest (Enforcement) Rules, 2002 as well as Appendix IV of the said Rules, which is the form of such possession notice, are extracted hereunder:

“8. Sale of immovable secured assets.-(1) Where the secured asset is an immovable property, the authorised officer shall take or cause to be taken possession, by delivering a possession notice prepared as nearly as possible in Appendix IV to these Rules, to the borrower and by affixing the possession notice on the outer door or at such conspicuous of the property.

(2) The possession notice as referred to in sub-rule (1) shall also be published, as soon as possible but in any case not later than seven days from the date of taking possession, in two leading newspapers, one in vernacular language having sufficient circulation in that locality, by the authorised officer.

(3) In the event of possession of immovable property is actually taken by the authorised officer, such property shall be kept in his own custody or in the custody of any person authorised or appointed by him, who shall take as much care of the property in his custody as an owner of ordinary prudence would, under the similar circumstances, take of such property.”

A reading of sub-rules (1) and (2) of Rule 8 of the Security Interest (Enforcement) Rules, 2002 would show that the possession notice will have to be affixed on the outer door or at the conspicuous place of the property and also published, as soon as possible but in any case not later than seven days from the date of taking possession, in two leading newspapers, one in vernacular language having sufficient circulation in that locality, by the authorised officer. At this stage, the lessee of an immovable property will have notice of the secured creditor making efforts to take possession of the secured assets of the borrower. When, therefore, a lessee becomes aware of the possession being taken by the secured creditor, in respect of the secured asset in respect of which he is the lessee, from the possession notice which is delivered, affixed or published in sub-rule (1) and sub-rule (2) of Rule 8 of the security Interest (Enforcement) Rules, 2002, he may either surrender possession or resist the attempt of the secured creditor to take the possession of the secured asset by producing before the authorised officer proof that he was inducted as a lessee prior to the creation of the mortgage or that he was a lessee under the mortgagor in accordance with the provisions of Section 65-A of the Transfer of Property Act and that the lease does not stand determined in accordance with Section 111 of the Transfer of Property Act. If the lessee surrenders possession, the lease, even if valid gets determined in accordance with clause (f) of Section 111 of the Transfer of Property Act, but if he resists the attempt of the secured creditor to take possession,

the authorised officer cannot evict the lessee by force but has to file an application before the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate under Section 14 of the SARFAESI Act and state in the affidavit accompanying the application, the name and address of the person claiming to be the lessee. When such an application is filed, the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate will have to give a notice and give an opportunity of hearing to the person claiming to be the lessee as well as to the secured creditor, consistent with the principles of natural justice, and then take a decision. If the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate is satisfied that there is a valid lease created before the mortgage or there is a valid lease created after the mortgage in accordance with the requirements of Section 65-A of the Transfer of Property Act and that the lease has not been determined in accordance with the provisions of Section 111 of the Transfer of Property Act, he cannot pass an order for delivering possession of the secured asset to the secured creditor. But in case he comes to the conclusion that there is in fact no valid lease made either before creation of the mortgage or after creation of the mortgage satisfying the requirements of Section 65-A of the Transfer of Property Act or that even though there was a valid lease, the lease stands determined in accordance with Section 111 of the Transfer of Property Act, he can pass an order for delivering possession of the secured asset to the secured creditor.

Sub-section (3) of Section 14 of the SARFAESI Act provides that no act of the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate or any officer authorised by the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate done in pursuance of Section 14 shall be called in question in any court or before any authority. The SARFAESI Act, therefore, attaches finality to the decision of the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate and this decision cannot be challenged before any court or any authority. But this Court has repeatedly held that statutory provisions attaching finality to the decision of any authority excluding the power of any other authority or court to examine such a decision will not be a bar for the High Court or this Court to exercise jurisdiction vested by the Constitution because a statutory provision cannot take away a power vested by the Constitution. To quote, observations of this Court in ***Columbia Sportswear Co. v. Director of Income Tax, (2012) 11 SCC 224***:

“Considering the settled position of law that the powers of this Court under Article 136 of the Constitution and the powers of the High Court under Articles 226 and 227 of the Constitution could not be affected by the provisions made in a statute by the legislature making the decision of the tribunal final or conclusive, we hold that sub-section (1) of Section 245-S of the Act insofar as it makes the advance ruling of the authority binding on the applicant, in respect of the transaction and on the Commissioner and Income Tax Authorities subordinate to him, does not bar

the jurisdiction of this Court under Article 136 of the Constitution or the Jurisdiction of the High Court under Articles 226 and 227 of the Constitution to entertain a challenge to the advance ruling of the authority.”

In our view, therefore, the decision of the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate can be challenged before the High Court under Articles 226 and 227 of the Constitution by any aggrieved party and if such a challenge is made, the High Court can examine the decision of the Chief Metropolitan Magistrate or the District Magistrate, as the case may be, in accordance with the settled principles of law.

•

276. SERVICE LAW:

Compulsory retirement – Law explained – Order of compulsory retirement cannot be passed as shortcut to avoid departmental enquiry – Such order without following the principles of natural justice is illegal.

सेवा नियम:

अनिवार्य सेवा निवृत्ति – विधि स्पष्ट की गयी – अनिवार्य सेवा निवृत्ति का आदेश विभागीय जाँच से बचकर संक्षिप्त में पारित नहीं किया जा सकता – ऐसा आदेश जो कि प्राकृतिक न्यायालय के सिद्धांतों का अनुसरण किये बिना दिया गया वह अवैध है।

Shantimal Bhandari v. The State of M.P. & ors.

Order dated 04.12.2013 passed by the High Court of M.P. in Writ Petition No. 3649 of 2009, reported in 2014 (II) MPJR 65

Extracts from the Order:

This is not in dispute between the parties that the petitioner is compulsorily retired by invoking Rule 72 (1) of the service regulations. The respondents have not issued any show cause notice/charge sheet nor conducted any disciplinary proceedings. Their action is based on clause 72 (1) of the by-laws. The pivotal question is whether by invoking clause 72(1) the petitioner can be retired compulsorily on the basis of aforesaid reasons.

Pausing here for a moment, it is apt to rely on the judgment of the Supreme Court in (State of Gujarat v. Umedbhai M. Patel) (2001) reported in 3 SCC 314. The Apex Court considered the law relating to compulsory retirement and crystallized it into definite principles. Those principles are broadly summarized as under:-

- (i) Whenever the services of a public servant are not longer useful to the general administration, he can be compulsorily retired for the sake of public interest.
- (ii) Ordinarily, the order of compulsory retirement is not to be treated as a punishment coming under Article 311 of the Constitution.

- (iii) For better administration, it is necessary to chop off dead wood, but the order of compulsory retirement can be passed after having due regard to the entire service record of the officer.
- (iv) Any adverse entries made in the confidential record shall be taken note of and be given due weight in passing such order.
- (v) Even uncommunicated entries in the confidential record can also be taken into consideration.
- (vi) The order of compulsory retirement shall not be passed as a short cut to avoid departmental enquiry when such course is more desirable.
- (vii) If the officer was given a promotion despite adverse entries made in the confidential record, that is a fact in favour of the officer.
- (viii) Compulsory retirement shall not be imposed as a punitive measure. A bare perusal of the law laid down by the Apex Court makes it clear that order of compulsory retirement cannot be passed as short cut to avoid departmental enquiry and when said course is more desirable. In the facts and circumstances of this case, it is clear that the respondents have passed the impugned order on the basis of certain allegations, which amounts to misconduct. Thus, the respondents have made an effort to short circuit the disciplinary proceedings by compulsorily retiring the petitioner. Chapter 11 Rule 56 of 1982 Rules defines the misconduct. Clause 7 reads as under:-

7. बैंक के किसी अधिकारी के किसी भी वैध और उचित आदेश की जानबूझकर अवज्ञा करना, अवहेलना करना या आज्ञा का उल्लंघन करना।

Averments of the impugned order, reproduced herein above, shows that the petitioner is compulsorily retired for allegations which, if proved, amounts to misconduct. As per said rules, unauthorized absence is also a misconduct. In view of aforesaid, it is clear that the impugned order is passed in lieu of disciplinary proceedings which is impermissible. Apart from this, the impugned order is passed thereby casting stigma on the petitioner. The petitioner is compulsorily retired due to incidents and allegations which amounts to misconduct. This has been done without providing any opportunity to him. Thus, principles of natural justice are violated. For this reason also, I have not relegated the petitioner to prefer appeal.

•

277.SPECIFIC RELIEF ACT, 1963 – Section 20

Where plaintiff gets unfair advantage over the defendant, the court may not grant discretionary relief of specific performance in favour of the plaintiff.

विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 – धारा 20

जहाँ वादी ने प्रतिवादी से अनुचित लाभ पाया हो वहाँ न्यायालय वादी के पक्ष में विनिर्दिष्ट पालन का वैकिकीय अनुतोष नहीं देता है।

Shamsher Singh and others v. Rajinder Kumar and others

Judgment dated 16.04.2014 passed by the Supreme Court in Civil Appeal No. 4597 of 2014, reported in AIR 2014 SC 2253

Extracts from the judgment:

On perusal of the original records in this case, it has come to light that both the purported agreement of sale, Ex. P-2 as well as the compromise, Ex.P-8 have major discrepancies in them. Certain clauses in both the documents seem to unduly favour the plaintiffs. In Ex.P-2, the operative part of the agreement of sale which is originally in Hindi, the English translation of the same reads as under:

“... .. The last date for execution of sale deed is fixed as 20th December, 2002. By that date if the seller fails to get the sale deed executed in favour of the buyer then the seller will pay the amount double of the advance money taken, and if by the due date the buyer does not get the sale deed executed then the advance money paid by him will be forfeited and instead of claiming compensation the buyer shall have the right to get the sale deed executed through court in his name or in anyone else’s name without paying the balance amount and the seller will have no right of any objection. The buyer shall bear all costs of registration”

This does not seem equitable and it seems unlikely that a seller would agree to such a clause. This seems to be a clear case of terms of a contract resulting in an unfair advantage for the plaintiffs over the defendants. Since the defendants are disputing the agreement of sale and claiming that the document on which they put their thumb impressions was in fact a mortgage deed in lieu of the loan of 58,000/- that they had asked from the plaintiffs for their household expenses, it puts the plaintiffs in a position of ‘unfair advantage’ over the defendants, thus bringing the case for not granting decree of specific performance within Section 20(2)(a) of the Act.

Further, the Trial Court has clearly explained the reasons for not granting a decree of specific performance and instead granted a decree for recovery of the money from the defendants and this falls squarely within the conditions set out in Section 20(2)(a) and (b) of the Act. This position of the law has been carefully

enunciated by this Court in the case of **A.C. Arulappan v. Ahalya Naik, (2001) 6 SCC 600**, wherein it was held that:-

“If under the terms of the contract the plaintiff gets an unfair advantage over the defendant, the court may not exercise its discretion in favour of the plaintiff... ..If it is inequitable to grant specific relief, then also the court would desist from granting a decree to the plaintiff.”

It is clear that it will be inequitable to grant a decree of specific performance in this case where it is clear that the plaintiffs have an unfair advantage over the defendants and the Trial Court has rightly exercised its discretion not to grant specific performance.

•

278. SPECIFIC RELIEF ACT, 1963 – Sections 34 and 38

CIVIL PROCEDURE CODE, 1908 – Section 91 and Order 1 Rule 8

- (i) **Whether suit filed for permanent injunction is maintainable without claiming the relief of declaration in respect of easementary right of way? Held, Yes – Further held, the plaintiff had been using the right of passage between two houses for a long time – Hence, his right of way cannot be obstructed.**
- (ii) **Leave under section 91 and Order 1 Rule 8 CPC, grant of – Can be granted at any stage of suit and it is not necessary that an application must be filed at the time of institution of suit.**

विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 – धारा 34 और 38

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – धारा 91 और आदेश 1 नियम 8

- (i) क्या स्थायी निषेधाज्ञा का वाद सुखाधिकार के आधार पर रास्ते के अधिकार की घोषणा का अनुतोष मांगे बिना चलने योग्य होता है? अभिनिर्धारित किया गया, हाँ – यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि वादी रास्ते के अधिकार का उपयोग दो गृहों के बीच से काफी लम्बे समय से कर रहा था – अतः उसके रास्ते के अधिकार को बाधित नहीं किया जा सकता।
- (ii) धारा 91 एवं आदेश 1 नियम 8 सी.पी.सी. के तहत अनुमति देना – वाद के किसी भी प्रक्रम पर दी जा सकती है और यह आवश्यक नहीं है कि वाद संस्थित करते समय आवेदन दिया जाना चाहिए।

Devilal and another v. Hamid Shah (dead) through LRs.

Judgment dated 07.05.2014 passed by the High Court in Second Appeal No. 130 of 1997, reported in 2014 RN 262 (High Court)

Extracts from the judgment

In the present case, it is submitted by the appellants that since in the present suit, the relief of declaration was not required as the relief of injunction itself was sufficient to protect the interest of the appellants. The appellants have also cited a judgment of Hon'ble the Supreme Court in this regard reported in

Corporation of City of Bangalore v. M. Papaiah, AIR 1989 SC 1809. The relevant observation in the aforesaid judgment is reproduced hereunder: -

“The suit was filed for a decree of perpetual injunction restraining the defendant Corporation from interfering with possession of plaintiff over land in dispute. The case of Corporation was that disputed area was acquired for using it as burial ground under Govt. order and compensation was paid to plaintiff out of Municipal funds and land was in possession of defendant since then. The plaintiff’s case was that the alleged G.O. was cancelled and land was settled under another G.O. with persons who subsequently sold it to plaintiff. The plaintiff also got his name entered in revenue records. The suit was decreed by trial Court but the decision was reversed in first appeal. The plaintiff’s second appeal was allowed by High Court and the decree of trial Court was restored.

Held, that foundation of claim of plaintiff was title which was pleaded in earlier part of plaint and for deciding the nature of a suit the entire plaint has to be read and not merely the relief portion. The plaint in the present case does not leave any manner of doubt that the suit has been filed for establishing the title of the plaintiffs and on that basis getting an injunction against the Corporation. The Court fee payable on the plaint has also to be assessed accordingly.”

In the present case also, the basic relief as claimed by the appellants was that in the suit land they had been using the right of passage for a long time and the sale deed executed in favour of the respondent by Anjuman Tajuman Islam Committee was of no consequence as the sale deed was illegal and not executed by proper authority and in any event if the sale deed was executed the right of way could not have been obstructed, which was the injunction sought for by the appellants. Hence, the first question is decided in favour of the appellants.

With respect to the second question, it has been argued on behalf of the appellants that the first appellate Court while dealing with the second issue in paragraph 9 of the judgment has observed that there was no compliance of provision or Order 1 Rule 8 CPC and therefore has committed a grave error.

It is true that initially appellant Devilal did not move on application under Order 1 Rule 8 CPC, but the allegations were made in para 2 of the plaint that the right of way claimed not only be Devilal but by all residents of that locality. During the pendency of the suit, an application I.A. No. 12 was moved by one Jagdish chandra on 02.01.1995 alleging that they also had right by way which was common for all residents of the locality and also sought impleadment as plaintiff . The application was allowed vide order dated 09.01.1995 and the Court

also directed publication of notice under Order 1 Rule 8 CPC in daily newspaper "Bhaskar" dated 27.03.1995. Thus, not only the application under Order 1 Rule 8 CPC was allowed, but publication was also effected.

The learned senior counsel for the appellants has also brought to my notice the judgment of Hon'ble the Supreme Court in **Krishnan Vasudevan and others v. Shareef and others, (2005) 12 SCC 180** wherein it has been observed that leave under Order 1 Rule 8 CPC can be granted at any stage of suit and does not require that an application should be filed at the time of institution of suit. In fact it has been held that even at the appellate stage, such relief can be claimed. The relevant observation are reproduced hereunder: -

"3. Order 1 Rule 8 CPC does not prescribe any stage at which the application can be filed. In our opinion, the trial Court ought to have heard and decided the application on its own merits without regard to the stage at which it was filed. The error committed by the trial Court should have been corrected by the High Court."

Thus this question is also decided against the respondent.

•

***279. SPECIFIC RELIEF ACT, 1963 – Sections 34 and 38**

Suit for declaration of title and for permanent injunction – More property than the share of seller received by way of Will, sold by registered sale deed, validity of – Held, the sale is valid up to the share of the seller's property.

विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 – धारा 34, 38

स्वत्व घोषणा और निषेधाज्ञा के लिए वाद – विल के माध्यम से विक्रेता को उसके अंश से अधिक सम्पत्ति प्राप्त हुई, पंजीकृत विक्रय पत्र द्वारा बेची गयी, उसकी वैधानिकता – विक्रय विक्रेता के सम्पत्ति में अंश की सीमा तक वैध है।

Bhagwati Bai and others v. Meera Bai and others

Judgment dated 08.07.2014 passed by the High Court in Second Appeal No. 1292 of 2004, reported in 2014 RN 312 (High Court)

•

280. STAMP ACT, 1899 – Sections 2 (14), 33, 35, 38 and Schedule I-A, Entry 5 (e)

(i) **Admissibility of document – Decisive and conclusive factors therefor – At the time of considering admissibility of document, it is recital/terms and conditions contained in the document which shall govern the issue of admissibility and shall also determine the nature of the document.**

(ii) **Instrument, connotation of – A conjoint reading of section 2 (14) and Entry 5 (e) of Schedule I-A makes it clear that the term**

'instrument' is wide enough to cover a document by which any right or liability is either created or purported to be created, transferred, limited, extended, extinguished or recorded.

स्टाम्प अधिनियम, 1899 – धारा 2 (14), 33, 35, 38, अनुसूची I-A, इन्द्राज 5 (e)

- (i) दस्तावेज की ग्राह्यता – निर्णायक और निश्चयक तत्व – दस्तावेज की ग्राह्यता पर विचार करते समय, दशायें और शर्तें जो दस्तावेज में हो वे दस्तावेज की ग्राह्यता संबंधी बिन्दु को शासित करती हैं और वे ही दस्तावेज की प्रकृति को भी निर्धारित करेंगी।
- (ii) लिखत, अर्थ – धारा 2 (14) और अनुसूची I-A – इन्द्राज 5 (e) को एक साथ पढ़ने में यह स्पष्ट होता है कि शब्द "लिखत" एक विस्तृत शब्द है जिसमें ऐसे दस्तावेज शामिल हैं जिसके द्वारा कोई अधिकार या दायित्व सृजित, अंतरित, सीमित, समाप्त, विस्तृत या अभिलिखित करता है।

Rajendra Syal v. Hari Prasad Agrawal and others

Judgment dated 16.05.2014 passed by the High Court of M.P. in Writ Petition No. 2771 of 2014, reported in 2014 (3) MPHT 464

Extracts from the judgment:

It is settled in law that the recital in the document are decisive and conclusive on its admissibility. At the time of considering the document, it is recital/terms and conditions contained in the document, which shall govern the issue of admissibility and shall also determine the nature of the document. [See : *Om Prakash vs Laxminarayan and others, 2014 (3) M.P.H.T. 319 (SC) = (2014) 1 SCC 618*].

In the opinion of this Court, the words "relating to sale of immovable property" are very wide. These are wider than "agreement for sale". A conjoint reading of Section 2(14), which defines "instrument" with entry (e) aforesaid makes it clear that it is wide enough to cover a document by which any right or liability is either created or purported to be created, transferred, limited, extended, extinguished or recorded. As per the text and context, in which the words "instrument" in relation to sale of immovable property are used, in my judgment, same are very wide and covers any "instrument", which is relating to sale of immovable property.

•

281. SUCCESSION ACT, 1925 – Section 63

Will, execution and attestation of – Law explained – Subscribing of signatures on the Will by the scribe cannot be equated with the signatures of attesting witnesses as signatures of the attesting witnesses are for a specific purpose for having witnessed the execution and for fulfillment of the statutory requirements – The scribe appends his signature on the Will as scribe is not a witness of the Will but a mere writer of the Will – The element of animus to attest

is missing – His signatures are only for the purpose of authenticating that he was a scribe of the Will.

उत्तराधिकारी अधिनियम, 1925 – धारा 63

वसीयत का, निष्पादन और अनुप्रमाणिकरण – विधि स्पष्ट की गयी – विल के लिखने वाले के हस्ताक्षर विल के अनुप्रमाणक साक्षी के हस्ताक्षर के समान नहीं हो सकते हैं क्योंकि अनुप्रमाणक साक्षी एक विशिष्ट उद्देश्य से हस्ताक्षर करता है जो कि निष्पादन का गवाह होता है और विधि की आवश्यकता को पूर्ण करता है – वसीयत का लेखक उसके हस्ताक्षर एक गवाह के रूप में नहीं करता है बल्कि वसीयत के लेखक के रूप में करता है – उसके हस्ताक्षर करने का उद्देश्य यह होता है कि वह विल का लेखक है इस बात को वह अधिकृत करता है।

Noorbaksh Khan v. Salim Khan and others

Judgment dated 09.07.2014 passed by the High Court of M.P. in Second Appeal No. 374 of 2012, reported in 2014 (4) MPHT 73

Extracts from the judgment:

For a valid 'Will' in terms of Section 63 of Succession Act (39 of 1925), it is to be attested by two witnesses. Further, to prove factum of execution of 'Will', in terms of Section 68 of the Evidence Act, it is to be proved at least by one of the attesting witnesses.

Section 3 of the Transfer of Property Act defines the word 'attested' and the meaning of the definition clause is well- explained by the Hon'ble Apex Court reported in *M.L. Abdul Jabar Sahib v. H.V. Venkata Sastri & Sons, AIR 1969 SC 1147* the the following effect:-

"8. It is to be noticed that the word 'attested' , the thing to be defined, occurs as part of the definition itself. To attest is to bear witness to a fact. Briefly put, the essential conditions of valid attestation under Section 3 are:-

- (1) two or more witnesses have seen the executants sign the instrument or have received from him a personal acknowledgment of his signature;
- (2) with a view to attest or to bear witness to this fact each of them has signed the instrument in the presence of the executant.

It is essential that the witness should have put his signature *animo attestandi*, that is, for the purpose of attesting that he has seen the executants sign or has received from him a personal acknowledgment of his signature. If a person puts his signature on the document for some other purpose, e.g., to certify that he is a scribe or an identifier or a Registering Officer, he is not an attesting witness."

In *N. Kamalam (dead) and another v. Ayyaswamy and another*, AIR 2001 SC 2802, Hon'ble Supreme Court has again elaborately and lucidly explained the scope, meaning and consequences of attestation in the context of factum of execution of 'Will'. Significant requirements are found to be two fold: (1) that. The attesting witness should witness the execution, which implies his presence; and (2) that, he should certify or mark for execution by subscribing his name as a witness; which implies a conscious intention to attest, i.e. attesting witness as animus to attest. Subscribing of signatures on the 'Will' by the scribe cannot be equated with the signatures of attesting witnesses as signatures of the attesting witnesses are for a specific purpose of having witnessed the execution and for fulfillment of the statutory requirements. The scribe appends his signatures on the 'Will' as scribe. He is not a witness to the 'Will' but a mere writer of the 'Will'. The element of the animus to attest is missing, i.e., intention to attest is missing. His signatures are only for the purpose of authenticating that he was a scribe of the 'Will'.

•

282. TRANSFER OF PROPERTY ACT, 1882 – Section 58

CONTRACT ACT, 1872 – Section 11

- (i) **A mortgage in the name of a minor, though in the interest of minor, is invalid unless the minor is represented by her natural guardian.**
- (ii) **Difference between Simple Mortgage and Usufructuary Mortgage, explained in para 11.**

सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 – धारा 58

संविदा अधिनियम, 1872 – धारा 11

- (i) अवयस्क के नाम पर बंधक, यद्यपि वह अवयस्क के हित में है, अवैध होता है जब तक कि अवयस्क का उसके प्राकृतिक संरक्षक द्वारा प्रतिनिधित्व नहीं किया गया हो।
- (ii) साधारण बंधक और भोग-बंधक में अन्तर – निर्णय चरण 11 में स्पष्ट किया गया।

Mathai Mathai v. Joseph Mary @ Marykkutty Joseph and others
Judgment dated 25.04.2014 passed by the Supreme Court in Civil Appeal No. 4479 of 2007, reported in AIR 2014 SC 2277

Extracts from the judgment:

As per the Indian Contract Act, 1872 it is clearly stated that for an agreement to become a contract, the parties must be competent to contract, wherein age of majority is a condition for competency. A deed of mortgage is a contract and we cannot hold that a mortgage in the name of a minor is valid, simply because it is in the interests of the minor unless she is represented by her natural guardian or guardian appointed by the court. The law cannot be read differently for a minor who is a mortgagor and a minor who is mortgagee

as there are rights and liabilities in respect of the immovable property would flow out of such a contract on both of them. Therefore, this Court has to hold that the mortgage deed-Ex.A 1 is void ab initio in law and the appellant cannot claim any rights under it. Accordingly, the first part of first point is answered against the appellant.

As regards to the later portion of the first point, even if we assume that it is a valid mortgage deed as per recitals of the documents, it is evident that it is a simple mortgage in terms of Section 58(b) of the Transfer of Property Act, 1882, but not a usufructuary mortgage as defined under Section 58(d) of the Transfer of Property Act. The relevant provisions of the same are extracted hereunder:-

“58. (b) Simple mortgage - Where, without delivering possession of the mortgaged property, the mortgagor binds himself personally to pay the mortgage-money, and agrees, expressly or impliedly, that, in the event of his failing to pay according to his contract, the mortgagee shall have a right to cause the mortgaged property to be sold and the proceeds of sale to be applied, so far as may be necessary, in payment of the mortgage-money, the transaction is called a simple mortgage and the mortgagee a simple mortgagee.

(d) Usufructuary mortgage Where the mortgagor delivers possession or expressly or by implication binds himself to deliver possession of the mortgaged property to the mortgagee, and authorises him to retain such possession until payment of the mortgage-money, and to receive the rents and profits accruing from the property or any part of such rents and profits and to appropriate the same in lieu of interest, or in payment of the mortgage-money, or partly in lieu of interest or partly in payment of the mortgage-money, the transaction is called an usufructuary mortgage and the mortgagee an usufructuary mortgage”.

On a careful reading of the recitals in Exh. A1, the mortgage deed and the aforesaid provisions of the Transfer of Property Act, i.e. the definitions of simple mortgage and usufructuary mortgage, wherein simple mortgage is defined as the mortgage where property is mortgaged without delivering possession of the mortgaged property to the mortgagee whereas usufructuary mortgage is defined as the mortgage where the mortgagor delivers possession or expressly or by implication binds himself to deliver possession of the mortgaged property to the mortgagee and further authorises him to retain such possession until payment of the mortgage-money, and to receive the rents and profits accruing from the property or any part of such rents and profits and to appropriate the same in lieu of interest, or in payment of the mortgage-money, or partly in lieu of interest or partly in payment of the mortgage-money. It is clear that in the present case, it is a simple mortgage and not a mortgage. Here,

it is relevant to mention the case of ***Pratap Singh alias Babu Ram and another v. Deputy Director of Consolidation, Mainpuri and others, (2000) 4 SCC 614***, wherein this Court held as under:-

“In the case of possessory or usufructuary mortgage, possession is delivered to the mortgagee. Delivery of possession to the mortgagee is a sine qua non of such a mortgage. It is delivered in terms of the mortgage by the mortgagor of his own volition to the mortgagee. The mortgagee gets possession over the land only because it has been delivered to him in terms of the mortgage deed which equally binds him”.

Thus, it is apparent that if a mortgage needs to be a usufructuary mortgage, possession has to be delivered under the aegis of the mortgage deed itself.

Further, as per section 58(d) of the Act, in a usufructuary mortgage, the mortgagor authorises the mortgagee to receive the rents and profits accruing from the property in order to pay off the loan and in the present case, there is nothing to show that this was happening and it is not substantiated by the appellant by producing documentary evidence. Further, the mortgagor has agreed to pay interest at the rate of ‘half chakram per year for every hundred’ towards repayment of the loan amount and this is detailed in the mortgage deed itself and hence we can infer that there was no intention on the part of the parties to allow the mortgagee to appropriate the rents and profits accruing out of the mortgaged property. It is also stated in the mortgage deed that, on payment of the principal, this mortgage deed will be redeemed, and if the principal and interest are not repaid, then it was agreed ‘to realize it charged upon the security property and on me’, meaning the mortgagor. Thus, it is very clear that the mortgage deed only purports to be that of a simple mortgage. Merely the fact that the mortgagee herein happened to be in possession of the mortgaged property will not make it sufficient to rule that he/she was a mortgagee in possession under the deed. Further, the argument that possession of the property was delivered immediately after the deed was executed also cannot be a ground to hold that mortgagee was in possession of the land in question as per the deed as there is no recital in the deed which delivers possession of the land to the mortgagee under the deed. In the case of ***Ramkishorelal and another v. Kamal Narayan, AIR 1963 SC 890***, it was held that the course of conduct of the parties is of no relevance for the construction of a which is in itself, unambiguous. In the present case, the mortgage deed is unambiguous and it is patently clear that the mortgagor did not intend to deliver possession of the mortgaged property as he has clearly mentioned that he is paying interest but there is no delivery of possession of land as per the deed.

•

NOTE : (*) Asterisk denotes short notes

PART - IV
IMPORTANT CENTRAL/STATE ACTS & AMENDMENTS

मध्यप्रदेश सिविल न्यायालय (संशोधन) अधिनियम, 2014
(मध्यप्रदेश अधिनियम क्रमांक 16 सन् 2014)

(दिनांक 3 सितम्बर, 2014 को राज्यपाल की अनुमति प्राप्त हुई, अनुमति "मध्यप्रदेश राजपत्र (असाधारण)" में दिनांक 4 सितम्बर, 2014 को प्रथम बार प्रकाशित की गई.)

क्र. 4320-227-इक्कीस- अ (प्रा.)- अधि.-मध्यप्रदेश विधान सभा का निम्नलिखित अधिनियम जिस पर दिनांक 3 सितम्बर, 2014 को राज्यपाल महोदय की अनुमति प्राप्त हो चुकी है, एतद्द्वारा सर्वसाधारण की जानकारी के लिए प्रकाशित किया जाता है।

मध्यप्रदेश सिविल न्यायालय अधिनियम, 1958 को और संशोधित करने हेतु अधिनियम भारत गणराज्य के पैंसठवें वर्ष में मध्यप्रदेश विधान-मण्डल द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित हो:-

1. संक्षिप्त नाम और प्रारंभ - (1) इस अधिनियम को संक्षिप्त नाम मध्यप्रदेश सिविल न्यायालय (संशोधन) अधिनियम, 2014 है।

(2) यह मध्यप्रदेश राजपत्र में इसके प्रकाशन की तारीख से प्रवृत्त होगा.

2. धारा 6 का संशोधन - मध्यप्रदेश सिविल न्यायालय अधिनियम, 1958 (क्रमांक 19 सन् 1958) की धारा 6 में, उपधारा (1) में, -

(एक) खण्ड (क) में, अंक और शब्द "2,50,000 रुपये" के स्थान पर अंक और शब्द "5,00,000 रुपये" स्थापित किए जाए;

(दो) खण्ड (ख) में, अंक और शब्द "10,00,000 रुपये" के स्थान पर अंक और शब्द "1,00,00,000 रुपये" स्थापित किए जाए।

भोपाल, दिनांक 4 सितम्बर, 2014

क्र. 4321-227- इक्कीस- अ (प्रा.)- अधि.- भारत के संविधान के अनुच्छेद 348 के खण्ड (3) के अनुसरण में मध्यप्रदेश सिविल न्यायालय (संशोधन) अधिनियम, 2014 (क्रमांक 16 सन् 2014) का अंग्रेजी अनुवाद राज्य के प्राधिकार में एतद् द्वारा प्रकाशित किया जाता है

मध्यप्रदेश के राज्यपाल के नाम से तथा आदेशानुसार
राजेश यादव, अपर सचिव.



**THE MADHYA PRADESH CIVIL COURT (AMENDMENT)
ACT, 2014 (MADHYA PRADESH ACT NO. 16 OF 2014)**

[Received the assent of the Governor on the 3 September, 2014; assent first published in the “Madhya Pradesh Gazette (Extra-ordinary)”, dated the 4th September, 2014.]

An Act further to amend the Madhya Pradesh Civil Courts Act, 1958.

Be it enacted by the Madhya Pradesh Legislature in the sixty-fifty year of the Republic of India as follows:-

1. Short title and commencement – (1) This Act may be called the Madhya Pradesh Civil Courts (Amendment) Act, 2014.

(2) It shall come into force on the date of its publication in the official Gazette.

2. Amendment of Section 6 – In section 6 of the Madhya Pradesh Civil Courts Act, 1958 (No. 19 of 1958), in sub-section (1),—

- (i) In clause (a), for the word and figures “Rupees 2,50,000”, the word and figures “Rupees 5,00,000” shall be substituted;
- (ii) In clause (b), for the word and figures “Rupees 10,00,000”, the word and figures Rupees 1,00,00,000” shall be substituted;

•

Happiness is when what you think, what you say, and what you do are in harmony.

--Mahatma Gandhi